हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

[कथा-साहित्य-संबंधी विशिष्ट अंक]

भाग ४५ जनवरी-मार्च

अङ्क १ सन् १९८४ ई०

प्रधान संपादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

संपादक

डॉ० जगदीश गुप्त

सहायक संपादक

डॉ० रामजी पाण्डेय

मूल्य ५ रुपये ।

अनुक्रम

प्रेमचन्द का साहित्य : एक पुनर्विचार

□

डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय

विगत वर्ष में मुंशी प्रेमचन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर देश-विदेश में अनेक आयोजन किये गये और गोष्ठियों एवं सभाओं द्वारा उनकी उपलब्धियों को प्रकाशित किया गया। किन्तु खेद का विषय है कि मुंशी प्रेमचन्द के उन अँधेरे स्वप्नों को पूरा करने का कोई ठोस प्रयत्न नहीं हुआ जिन्हें देखते-देखते वे असमय ही इस संसार से विदा हो गये। उनके स्वप्न समाज के उपेक्षित वर्गों की दशा में सुधार, स्त्रियों की दहेज-प्रथा, वेश्यावृत्ति के दुष्परिणाम, बेमेल विवाह जैसी समस्याओं से सम्बन्ध रखते थे। ये काम आकाश-कुसुम तोड़ने की भाँति असंभव नहीं थे, किन्तु प्रेमचन्द की मृत्यु के ४५ वर्ष बाद भी समस्यायें ज्यों की त्यों हैं। अतः प्रेमचन्द की साहित्य-सेवा के संदर्भ में इन समस्याओं पर पुनः विचार करना चाहिये।

प्रेमचन्द का साहित्य ग्रामीण जीवन के बहुरंगी चित्रों से किस प्रकार भरा पड़ा है, इसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। ग्रामीण जीवन में तो स्वयं उन्होंने आँखे खोली थीं और होरी, धनिया, सुजान भगत, अलगू चौधरी, जुम्मन शेख, बूढ़ी काकी जैसे उनके असंख्य पात्र कल्पना की दुनियाँ में नहीं जीते। वे भारतवर्ष के घर-घर में अभी तक विद्यमान हैं। प्रेमचन्द इन्हीं जैसे पात्रों का चित्रण करके कृषक, मजदूर और सामान्यतः दलित वर्ग के भीतर जागरण का शंख फूंकना चाहते थे।

वैसे उनके साहित्य में बुद्धिजीवियों की भी कमी नहीं है। सूदखोर महाजन, वासना-लोलुप जमींदार, ढोंगी महन्त और पुजारी उनकी रचनाओं में मिलते रहते हैं। किन्तु यह लक्षणीय है कि लेखक की सहानुभूति ऐसे पात्रों के प्रति कभी नहीं रही। सूदखोर महाजन आदि उनके कथा-साहित्य में एक विशेष प्रकार का विरोध (कन्ट्रास्ट) उत्पन्न करते हैं जैसा कि एकाधिक उदाहरणों से स्पष्ट होगा। इसका कारण यही है कि वे जब अपनी रचनाओं द्वारा एक या दूसरी समस्या पर प्रकाश डालते थे तो प्रायः ग्रामीणों एवं साहूकारों के अन्तर्विरोध से उसको प्रदर्शित करते थे। यह एक प्रकार से उनकी शैलीगत विशेषता थी जो विभिन्न समस्याओं को मूर्त रूप प्रदान करती थी। उनके साहित्य में इन्हीं समस्याओं पर गहराई से विचार करना चाहिये।

उदाहरण के लिये 'गोदान' की कथावस्तु भारत की तीन-चौथाई जनता की दैनन्दिन समस्यायें उपस्थित करती है। कथा निर्धन किसान होरी की है जो तीन-चार बीघे खेतों से पाँच प्राणियों के परिवार का किसी तरह पालन-पोषण करता है। भारत के सामान्य किसान की भाँति उसकी एक छोटी-सी इच्छा गाय पालने की है। जिस किसान के घर में गाय तक न हो, वह किसान कैसा? बड़ी कतरब्योन्त से जब गाय मिली तो उसके भाई ने गाय को विष देकर मार डाला। गो-हत्या का पाप होरी को लगा और उसे ऋण लेकर इसका प्रायश्चित करना पड़ा। उसके घर में फिर कभी दूसरी गाय नहीं आ सकी। तात्पर्य यह कि भारतीय किसान की जो समस्यायें धार्मिक विश्वासों

से जन्म लेती हैं, वे फिर निरन्तर बढ़ती ही जाती है। किसान सूदखोर महाजनों से अलग परेशान रहता है। इस संदर्भ में होरी के परिवार का यह चिलांकन अविस्मरणीय है—

"वर्ष भर के दुख और अभाव से पीड़ित आत्मायें आज सुख की कल्पना में विभोर हैं। बच्चों की जीभ से लार टपक रही है। होरी घर पहुँचता है तो रूपा पानी लेकर दौड़ती है, सोना चिलम भर लाती है, धनिया चबेना और नमक लाकर रख देती है और सभी आशा-भरी आँखों से उसकी ओर ताकते हैं। झुनिया भी चौखट पर आकर खड़ी हो जाती है। लेकिन होरी को सिर उठाने की हिम्मत नहीं पड़ रही है। ऐसा लज्जित और ग्लानित है मानो हत्या करके आया हो।"

यह प्रसंग 'गोदान' में ऊख की फसल कटने का है। होरी का परिवार ऊख से होने वाली आमदनी की आशा लगाये है, किन्तु महाजन सारे रुपये झपट लेने की ताक में बैठे हैं। प्रेमचन्द ने इसी दृश्य का मार्मिक अकन किया है।

'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में कुछ दूसरे प्रकार की समस्यायें उठाई गयी हैं। 'प्रेमाश्रम' में औद्योगिक सभ्यता से पूर्व भारतीय ग्रामों की सामाजिक-आर्थिक दशा के निराशा चित्र हैं। संपूर्ण उपन्यास सामाजिक शोषण और निरीह ग्रामीणों पर किये जाने वाले अत्याचारों के विवरणों से पूर्ण है। प्रकारान्तर से इसमें जमींदार परिवार के सदस्यों की अलग-अलग मानसिकता का वर्णन किया गया है। 'कर्मभूमि' में लाला समरकान्त और उनके पुत्र अमरकान्त के अन्तर्विरोधों द्वारा नयी और पुरानी पीढ़ी के संघर्ष की गाथा कही गयी है। उपन्यास की मूल कथा सन् १९२८ के लगानबन्दी-आन्दोलन पर आधारित है जिसे ब्रिटिश सरकार ने दबा दिया था।

प्रेमचन्द की सामाजिक जागरूकता उपन्यासों के अतिरिक्त प्रायः उनकी सभी कहानियों में लक्षित होती है। इसी शैली में वे ग्रामीण जीवन की अनन्त झाँकियाँ देकर उनकी विविध समस्याओं को इंगित करते हैं। यहाँ तक कि उनकी पशुप्रधान कहानियाँ भी, जैसे—'बैल की बिक्री', 'दो बैलों की कथा', 'पूर्व संस्कार', 'दूध का दाम' आदि समस्याओं की ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करती हैं। मानव-जीवन में केवल किसान ही नहीं आते, मजदूर, अछूत वर्ग भी उसमें सम्मिलित हैं। उनकी विश्वप्रसिद्ध कहानी 'कफन' के मुख्य पात्र घीसू और माधव समाज द्वारा तिरस्कृत तथा उपेक्षित व्यक्तियों के प्रतिनिधि हैं जो परिस्थितियों के कारण भाग्यवादी बन जाने के लिये मजबूर हो गये हैं। जब माधव घीसू के इस वाक्य का समर्थन करता है कि 'भगवान बुधिया को बैकुण्ठ ले जाना', तो उसका व्यंग्य अत्यन्त पैना हो जाता है। जो बुधिया अपनी जीवित अवस्था में उन दोनों का पेट भरती रही, वह मरकर भी उन्हें पेट भर खिला गयी।

इन्हीं कहानियों के भीतर से प्रेमचन्द ने कहीं समस्याओं का समाधान भी खोजा है जो उनकी सोद्देश्यता का परिचायक है। यह बात उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पंच परमेश्वर' से स्पष्ट है। यह कहानी पंचों के न्याय पर ग्रामीणों की आस्था का चित्रण करती है और आधुनिक मानवीय सन्दर्भों की भी व्याख्या करती है। पंच के महत्वपूर्ण आसन पर बैठकर अलगू चौधरी और जुम्मन शेख दोनों ही परस्पर द्वेष और बदले की भावना को एकदम भूल जाते हैं। इसी प्रकार 'सुजान भगत' कहानी में कर्म का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। सुजान भगत ने अपने परिश्रम से जमाई हुई गृहस्थी का भार सयाने लड़कों को सौंपकर धर्म-कर्मपूर्वक अपना जीवन बिताने का निश्चय किया। पर गृहस्थी का काम छोड़ते ही सब लोग उसे अकर्मण्य समझने लगे। यहाँ तक कि उसे भिखारी को भीख देने का अधिकार तक नहीं रह गया। इसके फलस्वरूप वह पुनः कर्मठ हो उठा

समकालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का वर्णन करना काम्य नहीं माना जाता, क्योंकि आज का लेखक अपनी रचनाओं द्वारा किसी समस्या का समाधन नहीं खोजना चाहता। सोद्देश्य लेखन, अर्थात् 'कमिटेड राइटिंग' पर विश्वास करते हुए भी या तो उसे किसी प्रकार के समाधान की आशा नहीं रह गई, या घोर यथार्थ के व्यामोह ने उसके सभी आदर्शों को धूमिल कर दिया है। परिणाम यह कि जीवन में व्याप्त कुण्ठा, निराशा, संत्रास साहित्य मे भी दर्शनीय हो गया है। ऐसा साहित्य परिमाण में विपुल होने पर भी अपने लीक से हटने के कारण निष्प्राण होता है। यही कारण है कि आज का नया साहित्य कल पुराना प्रतीत होने लगता है।

इसके विपरीत प्रेमचन्द जैसे साहित्यकारों का लेखन जीवन और समाज से जुड़ा रहने के कारण चिरनवीन है। यह कैसे कहा जा सकता है कि होरी, धनिया जैसे पात्रों की आधुनिक समाज में कोई समस्यायें ही नहीं रह गयी है? और जब तक इन जैसे अनेक पात्रों की समस्यायें विद्यमान है, उनका समाधान भी खोजना आवश्यक है। यह अवश्य है कि लेखक अपने विशिष्ट प्रकार से इनका समाधान ढूंढता है। प्रेमचन्द आज भी नये लेखक को उसके सामाजिक दायित्व का निरन्तर स्मरण कराते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में उनके साहित्य का मूल्यांकन करना उचित होगा।

आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय
जबलपुर (म०प्र०)

अज्ञेय की कहानी-सम्बन्धी मान्यताएँ

□

डॉ० नन्दकुमार राय

अज्ञेय की प्रतिभा बहुमुखी और विविध आयामी है। वे जितने बड़े कवि हैं, उतने ही महान् कथाकार, चिन्तक और समीक्षक भी। उनकी रचनाएँ उत्कर्ष के विशिष्ट धरातल को छूने वाली है, इसलिए सामान्य पाठको के लिये वह एक प्रकार की अनबूझ पहेली-सी प्रतीत होती है। उनकी रचनाओं की अर्थ-गोपनता संस्कारी पाठको को अर्थ और कथ्य के संसार से साक्षात्कार कराती है। अज्ञेय के रचनाकार को समझने-बूझने के लिए उनके चिन्तन और विचार की राह से गुज़रना ज़रूरी है। उनकी सृजन-संवेदना तक पहुँचने के लिये चिन्तन की परतों को हटाना पड़ता है। शायद, इसीलिये वे एक जटिल रचनाकार के रूप में पाठकों के बीच प्रख्यात हैं। उनका रचना-संसार कला-साधना का संसार है, जिसमें गंभीर ग्राहकों (पाठको) की पैठ संभाव्य होती है।

हिन्दी के आधुनिक कहानीकारों में अज्ञेय सर्वाधिक सशक्त, संवेदनशील और सफल कहानीकार हैं। उनकी कहानियो मे एक ओर प्रामाणिक अनुभवों का ज्ञातव्य मिलता है तो दूसरी ओर शैल्पिक संधान की नव्यतम प्रवृत्ति। प्रयोगधर्मी कलाकार होने के कारण उन्होंने कहानी-संसार को नयी दृष्टि और नये शिल्प से समृद्ध बनाया। हिन्दी-कहानी को उन्होंने अनुभूति की गहराई और काव्यात्मक गरिमा से सम्पन्न किया। अपनी कहानियों मे उन्होंने वह सब कहा जो पहले कभी नही कहा गया।

अज्ञेय के व्यक्तित्व में सृजन-चेता और भावक-चिन्तक का समायोजन मिलता है। इसलिये उनका व्यक्तित्व दुहरा है। उनकी रचनायें सैद्धान्तिक आग्रहो और मनःस्फूर्त संवेदनाओ को अपने-आप मे आयत्त करती चलती हैं। अज्ञेय ने लेखन के स्तर पर दुहरे दायित्व का निर्वाह किया है: रचनात्मक आधार के तौर पर उन्होंने सैद्धान्तिक निकष को स्थापित भी किया है और फिर उन स्थापनाओं को सर्जनात्मक प्रयोगों से रेखांकित भी किया है। प्रत्येक प्रयोगधर्मी और नये कलाकार को अपनी रचनात्मक पृष्ठभूमि में अपनी सैद्धान्तिक स्थापना के लिये 'कुछ' कहना पड़ता है। छायावादी कवियों (प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी) को अपनी काव्य-स्थापना के लिये कितने सारे वक्तव्यों को नहीं देना पड़ा? अज्ञेय ने अपने रचनात्मक पक्ष की वकालत तो नही की, किन्तु विभिन्न माध्यमों से साहित्य की विविध विधाओं और समस्याओं के सम्बन्ध मे अपने दृष्टिकोण को व्यक्त अवश्य किया है। उन विधाओ में कहानी भी एक विशिष्ट विधा है जिसके बारे में विभिन्न स्थलों पर विभिन्न सन्दर्भों मे उन्होंने अपनी मान्यताओं को निरूपित किया है। कहानी, विशेषतः अज्ञेय की कहानियों के विवेचन-विश्लेषण के सन्दर्भ में कहानी-सम्बन्धी उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओ को परीक्षित करते हुए हमें यह देखना चाहिये कि अपने कहानी-लेखन मे उन्होंने निजी और पूर्वगत कसौटी का कहाँ तक निर्वाह किया है अज्ञेय ने बी० ए०

लॉरेन्स के लहजे में बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि 'कहानी पर प्रत्यय रखो, लेखक पर पर नही।' इसका तात्पर्य यह है कि कहानी का ग्रहण और विश्लेषण कहानी की राह से गुजर कर करना चाहिए, न कि लेखकीय पूर्वग्रहग्रस्त होकर। दूसरी बात यह कि कहानी पर किसी मानदण्ड को आरोपित किये बिना कृति की राह से गुज़र कर उसे ही कुछ कहने का मौका देना चाहिये। इतना ही नही, रचनात्मक विश्लेषण के सन्दर्भ में रचनाकार को भी ओट मे ही होना और रखना चाहिए। इसीलिये वे बार-बार इस बात की चेतावनी देते है कि "लेखक अपने वारे मे जो बताए, उस पर विश्वास कभी मत कीजिए—उसकी रचना जो बताए, उसी को प्रमाण मानिए।"[1] अन्यत्र भी वे यही कहते है कि 'लेखक की बात का कभी विश्वास नही करना चाहिए, खासकर उसके अपने लेखन के विषय मे उसकी बात का।'[2] इस उद्धरण से यह बात साफ़ हो जाती है कि रचना पर किसी भी प्रकार के आरोपण का वे स्वीकार नही करते, बल्कि रचना-प्रक्रिया और उसमे अन्तर्निहित सवेदना को ही वे रचना की इयत्ता मानते है। रचनात्मक लब्धि किसी आरोपित मान-मूल्य के आधार पर उपलब्ध नही हो सकती, उसके लिए स्वयं रचना को ही प्रामाणिक आधार मानना होगा। उनका कहना है कि "हम पश्चिमी अनुभव से लाभ तो उठा सकते है, लेकिन अपने अनुभव की मूल्यवत्ता का फैसला उसके आधार पर नहीं कर सकते। ऐसा पूर्वग्रह अपने-आप ही हमारे पैरों की बेड़ी बन जाता है; उसे हम काट दें तो हमारा साहित्य फ़ौरन सहज भाव से आगे बढने लगता है।"[3]

अज्ञेय कवि, कथाकार, निबन्धकार, समीक्षक, चिन्तक और कला की प्रायः समस्त विधाओं के सफल सर्जक है। किन्तु अनुभूति के स्तर पर वे समग्रतः एक पूँजीभूत व्यक्तित्व हैं। यही कारण है कि वे काव्यानुभूति और कथानुभूति को अलग-अलग रूप, पहलू या प्रवाह या स्तर न मानकर बिल्कुल एक मानते हैं। भेद अनुभूति या रचना-प्रक्रिया का न होकर रचना-प्रणाली और रचना-तन्त्र का होता है। इसलिए अज्ञेय के काव्य पर उनके कथाकार की और वैसे ही उनके कथा-साहित्य पर उनके कवि-व्यक्तित्व की छाप कोई अस्वाभाविक नहीं है। उनका कहना है कि "अनुभूति तो मेरी है और मैं मैं। मेरा प्रयत्न है कि मैं एक ही रहूँ—द्विभाजित व्यक्तित्व का शिकार न बनूं। इसीलिये अगर ऐसा होता हो कि मेरे काव्य पर कथा-लेखक की छाप दीखती हो या कथा-साहित्य पर कवित्व की, तो उसमें अप्रत्याशित तो कुछ नही होना चाहिए।"[4]

कहानी-रचना के सन्दर्भ में अज्ञेय ने अनुभूति की प्रासंगिकता पर बहुविध बल दिया है। स्वानुभूति को सम्प्रेषित करना ही वे कहानी और कहानीकार की सिद्धि मानते हैं। उनकी दृष्टि मे "... लेखक अनुभूति ही लिखे; जो अनुभूति नहीं है, कोई सैद्धान्तिक प्रेरणा के वशीभूत होकर उसे लिखना ऋणशोध हो सकता है, साहित्यिक सिद्धि नही।" कलानुभूति वास्तव मे स्वानुभूति अथवा जीवनानुभूति ही होती है और वही कला मे सम्प्रेष्य होती है। अज्ञेय का कहना है कि "जीवनानुभूति ही काव्य का अथवा कला का क्षेत्र है; अनुभूत-सत्य का ज्ञान काव्य द्वारा ही सभव है और वही कवि का सम्प्रेष्य है।"[5] अज्ञेय साहित्यिक उद्देश्य के सम्बन्ध में दो बाते कहते है—प्रथमतः तो साहित्यकार (कहानीकार) को स्वतः अनुभूति को ही सम्प्रेषित करना चाहिये तथा द्वितीयत यह कि किसी सैद्धान्तिक या कि राजनैतिक प्रेरणा से प्रेरित अथवा बाधित होकर न लिखकर स्वत स्फूर्त भावनाओ को अभिव्यक्त करना ही वास्तविक कला-कर्म है

कहानीकारों और कहानी-आलोचकों ने कहानी को अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने की कोशिश की है। अज्ञेय के मतानुसार, 'कहानी क्षण का चित्र है।'[६] इस परिभाषा में प्रयुक्त शब्दावली को विश्लेषित करते हुए वे लिखते हैं : "क्षण का अर्थ हम चाहे एक छोटा कालखण्ड लगा लें, चाहे एक अल्पकालिक स्थिति, एक घटना, प्रभावी डायलॉग, एक मनोदशा, एक हृश्य, एक वाह्य या आभ्यन्तर झाँकी, समझ का एक आकस्मिक उन्मेष, संत्रास, तनाव, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया...... इसी प्रकार 'चित्र' का वर्णन, निरूपण, रेखांकन, सम्पुंजन-सूचन, संकेतन, अभिव्यंजन, रंजन, प्रतीकन, द्योतन, आलोकन, रूपायन, चाहे जो लगा लें— या इनके विभिन्न जोड़-मेल। × × × जब हम 'क्षण' की बात कहते हैं तो सिर्फ़ काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कर रहे हैं, बल्कि दिक् और काल की परस्पर भेदक और परस्पर भिन्न अवस्थिति के बारे में कुछ कह रहे हैं।"[७]

अज्ञेय के प्रोक्त कथन में नतोदर और उन्नतोदर ताल (लेन्स) की तरह परिभाषामूलक सूत्रात्मक संकोचन भी है और विस्तार भी। इस सूत्र से शब्दान्तर प्रयोग के सहारे कहानी की कई-एक परिभाषाओं का गढ़न किया जा सकता है। विस्तार से किञ्चित् बचकर यहाँ इतना कहकर भी काम चलाया जा सकता है कि किसी एक विशिष्ट मनोदशा अथवा अवस्थिति का आलोकन या रूपायन ही कहानी है। उसमें घटनाओं का क्रमिक विस्तार न होकर संश्लेषणात्मक चातुरी का प्राधान्य होता है। इसीलिये कहानी अपने लघु आयाम में भी पूर्णता का अनुबोधन कराने में सक्षम होती है।

क्षण के जिस चित्र को कहानी आकलित करती है, उसमें 'यथार्थ' की पकड़ अधिक-से-अधिक होती है। अब एक बड़ा प्रश्न यह उठता है कि आखिर 'यथार्थ' होता क्या है? अज्ञेय ने इसको विश्लेषित करते हुए लिखा है : यथार्थ—यथा + अर्थ। जो अर्थ है, उसको यथावत् प्रस्तुत करना (देखना, पहचानना, सम्प्रेषित करना आदि), अथवा जो यथास्थिति है, उसकी अर्थवान् प्रस्तुति अथवा उसके अर्थ की प्रस्तुति।"[८] स्पष्ट है कि अज्ञेय ने यहाँ भी 'अर्थ' के सम्प्रेषण पर ही सर्वाधिक बल दिया है। प्रबुद्ध और सजग कलाकार अपनी कला-यात्रा में निरन्तर अर्थ का अन्वेषण करता चलता है। अज्ञेय के विचार से कला का यथार्थ विषयीगत यथार्थ होता है और उसी में अर्थ निहित रहता है। वे मानते हैं कि "विषयीगत यथार्थ ही कला का यथार्थ होता है और इसलिये अर्थ की खोज हो सकती है। निस्सन्देह वस्तु-जगत् के तथ्यों की, परिवेश की स्थिति और क्रिया-व्यापारों की, सामाजिक बन्धनों की पकड़ या समझ विषयी की जैसी होगी, जीवन मात्र से उसका जैसा सम्बन्ध होगा, उससे वह विषयीगत यथार्थ भी प्रभावित होगा। उसी पर उसके पाये हुए अर्थ की मूल्यवत्ता निर्भर करेगी। लेकिन कलावस्तु से परिवेश के सम्बन्ध का यह दूसरा वृत्त है। पहले और दूसरे वृत्त के बीच स्वयं कलाकार खड़ा है।"

अज्ञेय अर्थान्वेषी हैं। अर्थ का अन्वेषण वे जीवनानुभूतियों से ही करते हैं। अनुभूति व्यक्तिगत जीवन की होती है—किसी व्यक्ति-विशेष की होती है। इसीलिये बार-बार वे व्यक्ति और व्यक्तित्व की खोज को विशेष महत्त्व देते हैं, यहाँ तक कि व्यक्तित्व की उस 'खोज' को वे कलात्मक लक्ष्य के रूप में स्वीकृति देते हैं। 'खोज' का सम्बन्ध वे 'अनुभूति' और 'क्षण' के साथ भी जोड़ते हैं। उनका कहना है कि "अनुभूति और परिस्थितियों में जब विपर्यय असन्तुलन या विरोध होता है तब अनुभूति का और आग्रह करता है यदि वह अतिरिक्त आग्रह है तो

इसीलिए कि वह सन्तुलन और सामंजस्य का आग्रह है।''''''क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है। और अनुभूति को अनुभावक से अलग नहीं किया जा सकता। अनुभूति अद्वितीय है, क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नहीं भोग सकता।''[१०] इस उद्धरण से इतनी बात निश्चय ही साफ़ हो जाती है कि अज्ञेय ने विभिन्न सन्दर्भों में, विभिन्न माध्यमों से 'अनुभूति' को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया है। एक बात और, कहानी को उन्होंने क्षण का चित्र माना है। इसका मतलब यह है कि उनकी दृष्टि में कहानी वह है जो क्षण से गृहीत 'अनुभूति' तत्त्व को ठीक-ठीक रूपायित कर सके। इस प्रकार, उनकी कहानी-विषयक परिभाषा दिक् और काल को समेटती हुई एक ओर अनुभूति के सातत्य को ऊपर की ओर उठाती है और दूसरी ओर अवान्तर रूप से अपनी अन्विति मे 'व्यक्तित्व की खोज' को प्रधानता देती है। इससे निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि अज्ञेय कहानी की सफलता इस बात मे मानते हैं जिसमें दिक् और काल से प्राप्त अनुभूति की अभिव्यक्ति भी हो और साथ ही व्यक्तित्व की खोज का उपक्रम भी। इन शर्तों को पूर्णता देने वाली कहानी में ही सही अर्थवत्ता की व्यञ्जना हो सकती है। वस्तुतः अर्थवत्ता की खोज ही कहानी या कि कहानीकार का अभीष्ट होता है। अज्ञेय की मान्यता है कि रचना-कर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहता है। वे कहते हैं कि "मानव की मेरी परिकल्पना में वह अनिवार्यतया अर्थ का खोजी और स्रष्टा है और यही इसके मानवत्व की पहचान है। × × × अर्थवत्ता की खोज जिजीविषा का एक पहलू है और अर्थ या अर्थ की चाह को अन्तिम रूप से खो देना जीवन की चाह ही खो देना है।''[११]

अज्ञेय ने 'अनुभूति' के साथ-साथ 'यथार्थ' पर भी अत्यधिक बल दिया है, किन्तु उनकी दृष्टि में, आभ्यन्तर यथार्थ की अर्थवत्ता अधिक महत्वपूर्ण है। वे मानते हैं कि "कला में यथार्थ हमेशा संवेदना से छनकर आता है और उसमे यह दीखना भी चाहिए कि वह संवेदना से छनकर आता है। कला के यथार्थ में विषयी द्वारा उसके स्वायत्त किये गये होने की गूँज होती है। उस गूँज के सहारे ही हम यथार्थ के निरे बयान से रचना की अलग पहचान करते हैं; क्योंकि हम परख करते हैं कि वह केवल बाहर का यथार्थ है या कि रचनाकार ने उसे आत्मसात् करके ही लिखा है। मेरे लिए रचना का यह इष्ट -या कि कह लिया जाय आदर्श—रहा है: उसमें वस्तु-सत्य का, बाहरी यथार्थ का खारापन भी होना चाहिये और साथ ही आत्म-सम्बोध के आभ्यन्तर यथार्थ की अर्थवत्ता भी होनी चाहिये।''[१२] इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय ऐसे सजग (कॉन्शस) कहानीकार हैं जो कहानी में एक ओर बाह्य और अभ्यान्तर अनुभूति को वस्तु-सत्य से जोड़कर उसे उजागर करना चाहते हैं और दूसरी ओर उसके माध्यम से व्यक्तित्व की तलाश करते हैं। किन्तु यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि इनका यथार्थ प्रेमचन्द का सामाजिक यथार्थवाद नहीं है। वे किसी 'वादी' की तरह यथार्थ के 'वाद' को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनकी दृष्टि में वाद सतह को पकड़ता है, बुनावट से उलझता है और इस प्रकार अपनी दृष्टि की सीमा बाँध लेता है। तब प्रत्यक्षदर्शी और प्रत्यक्ष-सम्प्रेषी कवि गहराई में उतरने का जोखिम उठाता है। यह उद्धरण इस तथ्य को संकेतित करता है कि कहानी के रचनात्मक स्तर पर अज्ञेय यथार्थ के वादी नहीं है। इसीलिए उनकी कहानियाँ केवल सतह के ऊपरी तल को छूने भर में अपना इदं-अर्थ स्वीकार नहीं करती, अपितु काव्य की अतल गहराई में उतर कर मानवीय संवेदना को सत्यता को सम्प्रेषित करता है। यही कारण है कि आप बार-बार मानवीय यथार्थ के वृहत्तर आयाम पर अपना अवधान केन्द्रित करते हैं वे लिखते हैं मानव-समाज केवल किसी एक युग का समाज नहीं है

देश-काल की रंगत लाने वाले लोकाचारों, मुहावरों और यहाँ तक कि सम्बन्धों के—विषयगत या बाहरी यथार्थ के सभी उपकरणों के—नीचे, परे, गहरे में मानव-समाज की एक दूसरी पहचान मिल सकती है जो युगातीत है, जो समाज की पहचान से बढकर मानव की पहचान है, जिसका यथार्थ सामाजिक यथार्थ-भर न होकर मानवीय यथार्थ है। हमारी धारणा है कि पड़ताल करने पर हम पायेंगे कि जो कहानियाँ जल्दी पुरानी नहीं होती है, या जो पुरानी होकर भी नयी बनी रही हैं या नयी हो गयी हैं, उनमें रचनाकार की दृष्टि सामाजिक यथार्थ की परिधि में न बँधी रहकर मानवीय यथार्थ पर केन्द्रित रही होगी : उनका आग्रह 'विषयगत' यथार्थ का न रहकर उस यथार्थ का रहा होगा जो विषयी और विषयी के आपसी व्यवहार में लक्षित या व्यंजित होता है और वहीं से फैलकर सामाजिक रूप लेता है—यानी सामाजिक होकर भी 'अन्तर-विषयी' बना रहता है : जो इण्टर सब्जेक्टिव होता है, आब्जैक्टिव नहीं होता।"[१४]

प्रोक्त उद्धरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि अज्ञेय ने कहानी-विषयक अपने मंतव्य में बार-बार **'मानवीय यथार्थ'** पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में, सही कहानी वह है जो मानवीय पहचान को उजागर करने में सक्षम हो। इस प्रकार, वे सामाजिक यथार्थवादी न होकर मानवतावादी विचारक ठहरते है। प्रेमचन्द की तरह वे समाज से होकर व्यक्ति तक नहीं पहुँचते, बल्कि अपनी कहानियों में वे व्यक्ति-चरित्र की कला-सम्वेद्य अनुभूतियों के माध्यम से सामाजिक अनुभूति की उस अतल गहराई में पैठने का उपक्रम करते हैं जहाँ मानव की सही-सही पहचान उभरती है। अपनी कहानियों के माध्यम से वे बराबर उस पहचान को रेखांकित और प्रोद्भाषित करने की चेष्टा करते हैं। इस रेखांकन-क्रम में उन्होंने मनोविज्ञान के रेशे-रेशे को उजागर किया है। इसीलिए उनकी कहानियों में एक खास तरह की बारीकी है जो अन्य कहानीकारों की कहानियों में नहीं उपलब्ध होती। यही वह बिन्दु है जहाँ अन्य कहानीकारों को पीछे छोड़कर वे एक विशिष्ट धरातल पर पहुँचे हुए दिखाई पड़ते हैं।

अज्ञेय की कहानी-सम्बन्धी मान्यताओं में कलात्मक संवेदना से छनी अनुभूति, मानवीय यथार्थ और मानव-मूल्य को विशेष महत्व प्राप्त है, किन्तु उनकी सार्थकता, सफलता सम्प्रेषण-क्षमता के अनुपात पर निर्भर करती है। वे चूँकि सृजन-संवेदना (चेतना) के समर्थक हैं, इसलिये रचना का विश्लेषण और मूल्यांकन किसी आरोपित मान-मूल्य के आधार पर न करके, स्वयं रचना की इयत्ता को ही आधार मानने का समर्थन करते हैं। दूसरी बात यह है कि रचना के विश्लेषण कर्म में शोधक या समीक्षक के लिए इस बात की अपेक्षा होती है कि वह रचनाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सन्दर्भ में रखकर रचनात्मक 'वस्तु' को देखे। व्यक्तित्व की समग्रता का सन्दर्भित करने का आशय उससे पूर्वग्रहग्रस्त होना नहीं है, बल्कि अधिकाधिक गहराई में पैठने से है। कहानी को कहानी की संवेदना से बहने देने में ही बुद्धिमत्ता है, उसे किसी आरोपित मूल्य के चौखटे में आयत्त करना बेमानी है।

कहानी की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अज्ञेय ने कहानी-लेखक की **'लेखन की अनिवार्यता'** पर बहुविध बल दिया है, अर्थात् अच्छी कहानी का विधान तभी संभव होता है जब कहानीकार की अनुभूति में इतनी तीव्रता हो कि वह कहानीकार को लिखने के लिए बाध्य कर दे। कहानी-कार की वह बाध्यता आभ्यन्तर मन की संवेदना की होती है। उनका कहना है कि "लिखना एक 'अनिवार्यता' होती है ......मेरी जिज्ञासा और दिलचस्पी आदर्शपरक रचना से बढ़ती हुई क्रमश. यथार्थोन्मुख होती गई—और भी स्पष्ट यह कि जिस यथार्थ की ओर मैं अधिकाधिक बढ़ा

वह 'बाह्य' या 'भौतिक' या 'सामाजिक' यथार्थ से पहले आभ्यन्तर, मानस अथवा मनोवैज्ञानिक यथार्थ था।"[१४] इस परिकथन से यहाँ यह बात अपने-आपमें बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि अनुभूति की गत्यात्मक और तीव्र शक्ति ही वह बाध्यता होती है जो कहानीकार को नैसर्गिक रूप से कहानी-लेखन के लिये उत्प्रेरित करती है। जिस कहानीकार में संवेदना की वह 'तीव्रता' नहीं होती, उसकी कहानी में अपेक्षित सम्प्रेषणीयता भी नहीं आ पाती।

अज्ञेय एक सधे हुए लेखक, सुलझे विचारक और गहरी पैठ रखने वाले चिन्तक हैं। इसलिए वे कला के क्षेत्र में न किसी प्रकार का चकाचौंध पैदा करते हैं, न किसी प्रकार की अहंकारोक्ति से ही काम लेते हैं। वास्तव में, कला अथवा साहित्य की भाँति वे कहानी को स्वायत्त व्यक्तित्व प्रदान करने के पक्षधर हैं। क्योंकि वे यह मानकर चलते हैं कि "साहित्य साहित्य मे से निकलता है; कहानी भी कहानी में से निकलती रही है।"[१६] कहानी कहानी होती है। इसलिये उसे उसी के अनुरूप देखना उचित है, न कि किसी विशेष 'आग्रह' के साथ। कहानी को उसके काल-सन्दर्भ मे देखना और उसका मूल्यांकन करना सार्थक हो सकता है। यही कारण है कि किसी भी प्रकार का फ़तवा दिये बिना वे कहानी की समग्रता अर्थात् 'वस्तु' और 'विधान' के विश्लेषण मे अधिक रुचि लेते हैं।

कारयित्री प्रतिभा के धनी होने के कारण अज्ञेय की प्रवृत्ति सृजन-संवेदना के प्रति अधिक रहती है। कहानी-सम्बन्धी उनकी मान्यताएँ केवल वैचारिक स्तर तक ही सीमित न रहकर सृजनात्मक बिन्दुओं से अपनी सही तस्वीर उभारती हैं। उदाहरण के लिए 'लौटती पगडंडियाँ' में संगृहीत 'कविता और जीवन : एक कहानी' शीर्षक कहानी का नाम लिया जा सकता। उनकी यह कहानी वास्तव में कहानी की कहानी है। उस कहानी के नायक—शिवसुन्दर का एक तरफ़ सत्य से साक्षात्कार होता है और दूसरी तरफ़ 'शिव' और 'सुन्दर' हैं। शिवसुन्दर के माध्यम से अज्ञेय ने अपनी कलागत उपपत्ति को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है कि कला-सृजन में सत्य का प्रत्यक्षीकरण, सौन्दर्य का अभिदर्शन और 'शिव' तत्व की विशद् भावना सन्निहित होती है। कहानीकार के रूप मे अज्ञेय ने अपनी इस सैद्धान्तिक उपपत्ति को कहानी की संवेदना में बुनने का प्रयास किया है। इससे निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि अज्ञेय जहाँ कहानी में कला-संवेद्य अनुभूति मानवीय यथार्थ, मानव-मूल्य और 'व्यक्तित्व की खोज' की बात करते हैं, वहाँ वे दूसरी ओर उससे भी आगे बढ़कर उस बात की पुष्टि सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् को संश्लिष्ट तात्त्विक संवेदना के साथ भी करते हैं। अतएव मानना होगा कि कहानी के स्वायत्त व्यक्तित्व की परख के लिए उनके द्वारा निर्दिष्ट कसौटी अपने-आपमे पूर्ण है और साथ ही 'लॉरेन्स' की इस उक्ति को सार्थकता प्रदान करती है कि 'कहानी पर प्रत्यय रखो, लेखक पर नहीं।'

सन्दर्भ-संकेत

१. अज्ञेय : लिखि कागद कोरे, पृ० ५०। २. वही, पृ० १२०। ३. वही, पृ० १०६। ४. वही, पृ० १०९। ५. वही, पृ० ७३। ६. अज्ञेय : छोड़ा हुआ रास्ता, भूमिका, पृ० ८। ७ वही, पृ० ७-८। ८. वही, पृ० ९। ९. वही, पृ० ५३। १०. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ० ६८-६९। ११. अज्ञेय : छोड़ा हुआ रास्ता, पृ० १३। १२. वही, पृ० १४। १३. वही, पृ० २०। १४. वही, पृ० १६। १५. अज्ञेय : लौटती पगडंडियाँ, पृ० ५। १६. वही, पृ० १२।

जी १/५१ मालवीय नगर
नयी दिल्ली १७

कहानीकार प्रेमचंद : सामयिक तथा सामाजिक संदर्भ में*

□

डॉ० राजमल बोरा

(१)

कथा-साहित्य के अंतर्गत कहानी और उपन्यास दोनों ही आते है। इन दोनों की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। प्रस्तुत में मैं कहानी पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहा हूँ। कहानी को साहित्य की लोकप्रिय विधा मानना चाहिये। इसके पाठकों की संख्या अन्य विधाओं की तुलना मे अधिक है। कहानी के लिये पत्र-पत्रिकाओं का माध्यम सुलभ है। यदा-कदा उपन्यास धारावाहिक रूप में पत्रिकाओं में छप जाय, यह बात अलग है, किन्तु उपन्यास को फिर भी पत्रिकाओं में कम और पुस्तकों मे अधिक पढ़ा जाता है, ठीक इसी तरह कहानियों को पत्रिकाओं में अधिक और पुस्तकों मे कम पढ़ा जाता है। प्रकाशक प्राय: उपन्यास छापना पसन्द करेंगे, कहानी-संग्रह की ओर वे प्राय: आकर्षित नही होते। उपन्यासों के संस्करण जितने निकलते हैं, उतने कहानी-संग्रहों के नहीं निकलते। कहानी के साथ सामयिकता जुडी हुई है। कहानी के सामाजिक संदर्भ पर विचार करते समय हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।

(२)

कहानी को सामयिक कहने के अनेक कारण हैं। खोजने वाले तो ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियों में भी सामयिकता खोज लेते हैं और उनका विवेचन-विश्लेषण सामयिक संदर्भ में कर देते हैं। प्रस्तुत में मैं कहानी के सामयिक गुण बतलाते हुए, कहानी के सामाजिक संदर्भों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

(३)

हम प्रेमचंद की कहानियों पर विचार करें। उनकी कहानियों को आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी ने सन् १९३२ ई० में ही सामयिक कहा। उनकी इस सम्बन्ध में टिप्पणी इस प्रकार है—

> "लोग कहते हैं समय ने प्रेमचंदजी का साथ दिया, पर हम ऐसा नहीं समझते। सामयिक परिस्थिति में प्रेमचंदजी को जितनी प्रसिद्धि मिली है, उससे अधिक के वे अधिकारी थे। उनके विकास के जिन परमाणुओं को उनके सभी समीक्षकों ने निरर्थक प्रशंसा के भार में दबा दिया है, यदि वे प्रस्फुटित हो पाते तो प्रेमचंदजी को आज उन्हीं समीक्षकों का मुँह न ताकना पड़ता। वास्तविक बात यह है कि समय ने प्रेमचंदजी का साथ उतना नही दिया, जितना प्रेमचंद ने स्वयं समय का साथ दिया है। सामयिक वातावरण से प्रेमचंदजी इतना विशेष प्रभावित हुए हैं कि उनकी सहृदयता देखकर हम मुग्ध ही नहीं, आतंकित भी होते हैं।"[1]

---

* श्री बसवेश्वर कॉलेज, लातूर में आयोजित सेमिनार में पठित भाषण १७ फरवरी, १९८४

वाजपेयीजी प्रेमचंदजी की कहानी-कला या कहानी की टेक्नीक की प्रशंसा करते हैं, किन्तु वे उनकी कहानियों को सामयिक कहते हैं। वे लिखते हैं—

"आज आप सामयिक पत्रों में जो चर्चा पढ चुके हैं, कल प्रेमचंदजी की कहानियों मे उसे दुबारा पढ़िये। उपस्थित प्रसंगों पर जो भावमय निबन्ध लिखे जाते हैं अथवा जो सम्पादकीय लेख छपते रहते हैं, प्रेमचंदजी की कहानियाँ उन्ही का दूसरा रूप है। यह दूसरा रूप प्रदान करने में— कहानी की टेक्नीक खड़ी करने मे —प्रेमचदजी को कमाल हासिल है, यह मुक्तकंठ से प्रत्येक समीक्षक स्वीकार करेगा। हमारा तो अनुमान है कि इतने सीमित क्षेत्र में इतना अधिक साहित्य निर्माण करना प्रेमचंदजी के कलाकौशल का निश्चित प्रमाण है।"[२]

प्रेमचंदजी अपनी कहानियों में बुद्धि की अपेक्षा भाव को प्रधान मानते रहे हैं। जागरण पत्र में उन्होंने इस तरह से लिखा भी था। इस पर आपत्ति करते हुए वाजपेयीजी लिखते हैं—

"स्त्रियों के अधिकार, यथायोग्य विवाह, अछूत, किसान, सेवा-संस्था, सामान्य पारिवारिक जीवन आदि से सम्बन्धित सौ-पचास सामूहिक भावों को उद्दीप्त करते रहिये और तर्क-वितर्क मत करिये। किन्तु प्रेमचंदजी को यह विचार करने का अवसर ही नही मिला है कि आज जो सौ-पचास भाव समाज के सतह पर आ गये हैं, वे भी बुद्धिमान व्यक्तियों की बुद्धिजन्य क्रिया के ही फल है। क्या कहानी-लेखक इन्ही सतह पर आये हुए सौ-पचास भावों को लेकर बैठा रहे? समाज के अंतरंग जीवन में प्रवेश करने, उसका रहस्य जानने का प्रयत्न न करे? क्या वह इतने ही इने-गिने भावों के बीच चक्कर काटा करे, अपने बुद्धि-विवेक से नई भूमि तैयार न करे? क्या आंधी से ऊपर उठकर स्वच्छ वातावरण मे वह स्थिति का अध्ययन नहीं कर सकता और उसके परिणाम से हमें अवगत नहीं करा सकता?"[३]

वाजपेयीजी को मैंने ऊपर विस्तृत रूप में उद्धृत किया है और इसका कारण यह है कि सामयिकता को स्पष्ट करना था। प्रेमचंदजी ने जब कहानियाँ लिखी, उस समय वे सामयिक थी। उस सामयिकता में सामाजिक संदर्भ है। आज उन्हीं कहानियों को परखते समय हम उन्हें सामाजिक कहते है।

(४)

प्रेमचंद, रवीन्द्र और शरत्

प्रेमचन्द के साथ हम रवीन्द्र और शरत् की तुलना कर सकते हैं। प्रेमचंद की तुलना मे शरत् की कहानियाँ अधिक भावपूर्ण है और रवीन्द्र की कहानियाँ चिन्तनप्रधान हैं। ये तीनो ही लेखक ऐसे है जो प्रायः समकालीन रहे हैं। इन तीनों की तुलना करने के लिये एक विनोदी मित्र ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के सामने प्रस्ताव रखा था। प्रस्ताव में कहा गया था कि मानिये कि रवीन्द्रनाथ, शरत् और प्रेमचंद एक परीक्षा-भवन मे बैठे हुए हैं। तीनो से कहा जाय कि ऐसी कहानी लिखो जो रुला दे। परीक्षक को बीस मिनट का समय दिया जायगा। इस समय में ही उसे बताना होगा कि वह कितनी देर रो सकता है। इस प्रश्न का समाधान देते हुए अपने विनोदी मित्र को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने उत्तर दिया

की कहानी पढ़कर पाँच मिनट रोऊंगा पंद्रह मिनट सोचूँगा शरत्

चन्द्र की कहानी पढकर सत्रह मिनट रोऊंगा और तीन मिनट सोचूंगा और प्रेमचन्द की कहानी पढ़कर दस मिनट रोऊंगा, दस मिनट सोचूंगा।"४

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के इस उत्तर में तीनों की तुलना हो जाती है। संक्षेप में, प्रेमचंदजी की कहानियाँ रवीन्द्र की तरह चिन्तनप्रधान नहीं और शरत् की तरह भावपूर्ण भी नहीं, प्रेमचंदजी में दोनों गुण समान स्तर पर हैं।

(५)

प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद

प्रेमचंद की तुलना में जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ अधिक भावपूर्ण और चिन्तनप्रधान हैं। प्रेमचद के समान प्रसाद की कहानियाँ एकदम सामयिक नहीं हैं। प्रसाद की कहानियों के पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व मिलेगे और इन अन्तर्द्वन्दों में ही सामाजिक मूल्यों पर बल दिखलाई देगा। व्यक्ति इन मूल्यों के लिये त्याग करता है और इस त्याग में प्रसाद की कहानी चमक जाती है। प्रसाद ने अपने पात्रों को कुछ ऐसा रूप दिया है कि पाठक पात्रो के प्रति सहानुभूति रखते हैं। पात्र के भीतर नैतिक ज्योति जगा देने में प्रसाद समर्थ हैं। पात्र की वैयक्तिक कठिनाइयाँ कहानियों मे उभरती है। पात्र समाज के प्रति अपने को प्रतिबद्ध मानता है और समाज तथा राष्ट्र के प्रति त्याग करता है। कहानी का जो प्रभाव पाठकों पर रह जाता है, वह उस व्यक्ति की निजी कठिनाइयों का रहता है। पात्र में 'प्रेम' के मूल्य का प्रतिपादन प्रसाद की कहानियों में है। यह प्रेम त्याग मे और विरह मे अधिक उभरता है। प्रेमचदजी की कहानियों मे ये सब नही है। वाजपेयीजी प्रसाद के जितने समर्थक रहे, उतने प्रेमचंद के नहीं।

(६)

प्रेमचंदजी के पहले कहानी-साहित्य को केवल सुना जाता था। कहानी को पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन का स्वरूप प्राप्त नही था। प्रेमचदजी ने अपनी कहानियों के माध्यम से उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान की। कहानी अब सुनने और कहने तक सीमित नहीं रही। उसका क्षेत्र व्यापक हो गया और उसे प्रतिष्ठा भी मिली। प्रेमचंदजी की कहानियों को हम सामाजिक कहानियाँ कहते हैं। प्रेमचंदजी की कहानियों में प्रेमचंद-युग का समाज प्रतिबिम्बित है। वाजपेयीजी प्रेमचंदजी को सामयिक लेखक मानते हैं, किन्तु प्रेमचदजी की यह विशेषता—सामयिक प्रभावों को स्वीकार कर उसे यथावत् प्रस्तुत करने का प्रयास करने वाली विशेषता—प्रेमचद के लेखन को सामाजिक स्वरूप प्रदान करती है। प्रेमचंदजी की सामयिकता सामाजिक संदर्भों से युक्त है। इन कहानियो मे व्यक्ति की समस्यायें कम और समाज की समस्यायें अधिक है। इन समस्याओ का निदान सामयिक विचारधाराओं के संदर्भ मे प्रस्तुत हुआ है।

(७)

प्रेमचंद और यशपाल

प्रेमचन्द और यशपाल की तुलना करें तो हमें यह कहना होगा कि प्रेमचंदजी प्रथम कहानीकार हैं और बाद में सब कुछ। इस तुलना मे यशपाल प्रथम चिंतक हैं और बाद मे कहानीकार। यशपाल के लिये कहानी माध्यम है जब कि प्रेमचंद के लिये कहानी सब कुछ है। जो पाठक प्रेमचद के विचारों को स्वीकार नहीं करेगे वे भी उनकी कहानियों से प्रभावित होंगे। प्रेमचंद की परम्परा में यशपाल को रखने का प्रयास होता है, किन्तु उस म बैठते नहीं हैं प्रेमचदजी मे

विचारों और भावों का सन्तुलन है। प्रेमचंदजी का विचार-पक्ष भाव से सबल नहीं हो पाया है। कहानी को जिन कारणों से कहानी कहना चाहिये, वे सब विशेषतायें प्रेमचंदजी की कहानियो में मिल जायेंगी।

(८)

प्रेमचंदजी की कहानियो का फलक विस्तृत है। इस फलक में व्यक्ति समाज का अंग होकर आया है। प्रेमचंदजी अपनी कहानियों में पात्रों को स्वतंत्र नही रहने देते। बीच-बीच में वे स्वयं पात्र के सामाजिक संदर्भों की व्याख्या करते हैं और पात्र के चरित्र का उद्घाटन करने के लिये पात्र की समस्या को सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। पात्र को समाज का अंग मान लेने के कारण पात्र का निजी वैचारिक व्यक्तित्व कहानी में नही उभरता। प्रेमचंदजी इस गहराई में गये ही नहीं। पात्र, जो है, बतलाते-बतलाते उसे कैसे होना चाहिये, यह भी वे बतलाते जाते हैं। प्रेमचंदजी पात्र के यथार्थ स्वरूप को जिस सीमा तक प्रस्तुत करते हैं, उसकी प्रशंसा प्रायः सभी समीक्षकों ने की है; किन्तु जब वे जो होना चाहिये, कहने लगते है, तो उससे सब सहमत नहीं होते। प्रेमचंदजी ने पात्रों के यथार्थ का उद्घाटन किया है और इस उद्घाटन मे उनको कमाल हासिल है। इस उद्घाटन ने ही उनकी कहानी को 'कहानी का स्वरूप' प्रदान किया है। प्रेमचंदजी के पात्र अपनी कहानी आप नही कहते, बल्कि प्रेमचंदजी स्वयं पात्रों की कहानी कहते रहते है। प्रेमचंदजी के पात्रों को उनके जबानी सुनना हो तो संवाद मे ही सुना जा सकता है। संवाद से हटकर जब बीच मे प्रेमचंदजी बोलने लगते है तो कहानी का स्वरूप बदल जाता है। प्रेमचंदजी कहानी का सामाजिक संदर्भ स्वयं कहानी से हटकर कहानी मे ही व्यक्त करते चलते है। इस सामाजिक संदर्भ के कारण पाठक कहानी को आसानी से समझ लेते है। वे प्रायः अपनी कहानी के आरंभ में भूमिका भी बनाते हैं, बीच-बीच मे टिप्पणी भी करते हैं और अन्त मे समस्या के निदान की ओर संकेत भी करते हे। यह सब कुछ साथ-साथ होता रहता है। हम कहानी को सुगम रीति से समझते ही नही, अपितु उस पर चिन्तन भी कर लेते है और नैतिक रेखा में उसका मूल्यांकन भी कर लेते हैं।

(९)

प्रेमचंदजी की कहानियों में कहानी के प्रधान तत्त्व मिल जाते हैं। विशेष रूप से घटना एवं कथानक दोनों ही कहानी में प्रधान रहते है। कुछ कहानियाँ चरित्र-प्रधान भी हैं। और तत्त्व इन सब के साथ रहते ही है। कहानी का सामाजिक संदर्भ वस्तुतः घटनाओं और कथानक में निहित रहता है। प्रेमचंदजी कहानी के बीच-बीच में इस सामाजिक संदर्भ को अलग से बतला देते हैं। इसके कारण कहानी प्रेक्षणीय हो जाती है। आज की कहानियों में इन तत्त्वों का ह्रास हो गया है। कहानी अब पढ़ने-पढ़ाने तक सीमित नहीं रहती है, अब वह समझने-समझाने तक विकसित हो गई है। प्रेमचंदजी की कहानियों में पाठकों को श्रम नहीं करना पड़ता और न चिन्तन करना पड़ता है क्योंकि ऐसे स्थलों पर लेखक सब कुछ पहले ही कह देता है। इस तुलना में आज की कहानियो मे पाठकों की समझ-बूझ को स्वीकार किया जाता है। कहानी-कला में विस्तार की अपेक्षा संकोच आ गया है। इस संकोच ने सामाजिक संदर्भ को पाठकों की समझ मान लिया है। पात्र सीधे और प्रत्यक्ष रूप मे अपनी बात कहते हैं। लेखक और पात्र का भेद समाप्त होता गया है। लेखक स्वयं पात्र हो गये है। ऐसी स्थिति में 'सामाजिक संदर्भ' लेखक का अपना 'सामाजिक संदर्भ' है और यह खोज का विषय है। कहानी को सामयिक बनाना है तो सामाजिक संदर्भ स्पष्ट करना होगा। यदि कहानी को (स्वरूप दिया जायगा तो कहानी चिन्तन प्रधान हो जायेगी और उसके

सामयिक स्वरूप को पहचानने में कठिनाई होगी। मैं आज की कहानियों का विश्लेषण नहीं कर रहा हूँ। यह मैं प्रेमचंदजी की कहानियों के संदर्भ में कह रहा हूँ। संक्षेप में प्रेमचंदजी की कहानियाँ, प्रधान रूप से कहानियाँ हैं। कहानियों के मानक रूप का निर्धारण करने में इन कहानियों के महत्त्व को स्वीकार करना होगा। कहानी को जिन कारणों से कहानी कहा जाता है, वे सब कारण प्रेमचंदजी की कहानियों में मिल जायेंगे।

(१०)

प्रेमचंदजी की कहानी-कला की प्रशंसा सभी समीक्षकों ने की है - उन समीक्षकों ने भी जो उनके विचारों से सहमत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि प्रेमचंदजी की कहानियों का सामाजिक संदर्भ स्पष्ट है। इस स्पष्टता के कारण कहानी, कहानी के रूप में प्रेक्षणीय हुई है। कहानी के साथ माध्यम जुड़ा हुआ है और यह माध्यम पत्र-पत्रिकाएँ है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः ऐसी रचनायें छपती हैं जो सामयिक होती हैं। प्रेमचंदजी की कहानियाँ पहले पत्र-पत्रिकाओं में छपी। उनका संकलन बाद में हुआ। कहानीकार जब स्थायी रूप से कुछ कहना चाहता है और अपने को विस्तार देना चाहता है, तब वह उपन्यास की ओर बढ़ता है। प्रायः यह देखने में आया है कि जो पहले कहानियाँ लिखते थे, वे बाद में स्वीकृत होने पर उपन्यास लिखने लगे और कुछ लेखकों ने तो बाद में कहानियाँ लिखना बन्द कर दिया। कहानियों के माध्यम से जो साहित्य के क्षेत्र में आये, किन्तु बाद में उन्होंने कहानी को ही छोड़ दिया। इसका कारण यह है कि अन्ततः कहानी सामयिक ही मानी जाती है। दूसरी बात कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में अधिक पढ़ी जाती हैं। उनको संकलनों में कम पढ़ा जाता है। 'कहानी-लेखक' को प्रेमचंदजी ने साहित्यिक प्रतिष्ठा अवश्य दिला दी, किन्तु उपन्यासों के रूप में यदि विकास होता है तो साहित्यिक प्रतिष्ठा अधिक मिलती है। अज्ञेय ने कहानी लिखना छोड़ दिया। उनकी समस्त कहानियों के दो भाग 'छोड़ा हुआ रास्ता'—नाम से प्रकाशित हुए है। हम देखते हैं कि कोई भी महान् साहित्यकार केवल कहानीकार रहना पसन्द नहीं करता। बाद में वह अन्य विधाओं की ओर बढ़ता है और जब उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिये दूसरी विधा में जगह मिल जाती है तो वह इस विधा को छोड़ भी देता है। हम कहानी-संकलन भी प्रायः उन्हीं लेखकों के पढ़ते हैं जिनको अन्य विधाओं में प्रसिद्धि प्राप्त हो गई है। ऐसा, इसलिये कि माने या न माने, कहानी के साथ सामयिकता जुड़ी हुई है। सामयिक होना एक ओर जहाँ दोष है, वहीं दूसरी ओर गुण भी है। यदि एक लेखक निरन्तर कहानियाँ लिखता है, तो उसे समय के अनुसार बदलना पड़ता है।

(११)

प्रेमचंदजी का पहला कहानी-संग्रह 'सोजे-वतन' १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ और १९३६ ई० तक वे— अंत समय तक कहिये—कहानियाँ लिखते रहे हैं। इस विधा में निरन्तर कार्य करते रहने के कारण वे अपने समय से सदैव जुड़े रहे और अपने को प्रतिबद्ध भी मानते रहे। प्रेमचंदजी का उनका अपना विकास कहानियों में ही होता दिखलाई देता है। 'कफन' उनकी अन्तिम विकसित कहानी है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि कहानी लिखना समय के साथ जुड़ा रहने का प्रयत्न भी है। २९ जनवरी-४ फरवरी के दिनमान में आपका कहना है—स्तम्भ के अंतर्गत डॉ० नामवर सिंह की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई है—'कहानी लिखना हिन्दी में सबसे आसान काम रह गया है।'— यह टिप्पणी इस बात का प्रमाण है कि कहानी विधा को जो समय के साथ रहती है और जिसके पाठकों की संख्या अन्य विधाओं की तुलना में सबसे अधिक रहती है कितने हल्के रूप में लिया जा रहा है। कहानी के माध्यम से साहित्यिक आन्दोलन कविता की तरह चलते रहे हैं साहित्य की

नई प्रवृत्तियों की झलक प्रथमत: इन दो विधाओं में ही प्राय: देखी जाती है। नयी कविता की तरह नयी कहानी भी सामने आई है और जिसने अपने को प्रेमचंद की परम्परा से अलग माना है। नयी कहानी में बाद में और भी बदलाव आये हैं। कहानी के कारण हिन्दी में स्वतंत्र पत्रिकायें चली जिनमें केवल कहानियाँ ही छपती हैं। डॉ० महीप सिंह की एक पुस्तक 'सचेतन कहानी : रचना और विचार' इस उद्देश्य से सामने आई कि नयी और पुरानी जैसे शब्द कहानी के साथ जोड़ना उपयुक्त नही लगा। 'सोचने' में कहानी को वैचारिक रूप मे स्थापित करने का प्रयास रहा है सम्पादकीय के रूप में (हिन्दी कहानी : सचेतन दिशा)। डॉ० महीप सिंह ने इसी पुस्तक में लिखा—"सचेतनता एक दृष्टि है। वह दृष्टि जिसमें जीवन जिया भी जाता है।"[६]

मैं कहना यह चाहता हूँ कि कविता की तरह कहानी विधा में साहित्यिक प्रवृत्तियों का बदलाव दिखलाई देता है। जो लेखक कहानी के माध्यम से साहित्य-जगत् में प्रवेश करता है और बाद मे इस माध्यम को इसलिये छोड़ देता है कि उसे सामयिक रहना शायद ठीक न लगे या कहानी को बहुत गंभीर न माने, यह भी कारण हो सकता है। इस सबके बावजूद कहानी की लोकप्रियता को कोई नकार नहीं सकता। उसका लेखन जितना आसान समझ लिया जाता है, उतना ही वह कठिन भी है। कविता जब साहित्य के केन्द्र से हटती हुई प्रतीत हुई तो कहानी ने अपने रूप का विस्तार किया। किन्तु इधर लग रहा है कि कविता फिर से अपना स्थान ग्रहण कर रही है। इस समय कविता कहानी से आगे है।

(१२)

मैं प्रेमचंदजी की प्रशंसा इस नाते भी करूँगा कि सामयिक आलोचना-प्रत्यालोचनाओं का सामना करते हुए उन्होंने अपनी दिशा बनाये रखी। कहानी लिखना उन्होंने छोड़ा नहीं। कहानी लिखना सरल हो या कठिन, उसको प्रेमचंदजी ने गम्भीर रूप में लिया और इसके कारण वे कहानीकार को प्रतिष्ठा दिलाने वाले प्रधान लेखक हैं। इस रूप में उनकी ख्याति बराबर बनी रहेगी। प्रेमचंदजी का सामयिक लेखन, अपने साहित्यिक गुणों के कारण सामाजिक हो गया है और स्थायी साहित्य का ऐतिहासिक रूप है।

संदर्भ-संकेत

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी (सन् १९५८ ई० प्रकाशित संस्करण), पृ० ८५। २. वही, पृ० ८५ तथा ८६। ३. वही, पृ० ८६। ४. दूसरी परम्परा की खोज, डॉ० नामवर सिंह, प्रथम संस्करण, १९८२, पृ० १७-१८। ६. सचेतन कहानी : रचना और विचार, डॉ० महीप सिंह, पृ० १२।

५, मनीषा नगर, केसरीसिंह पुरा,
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

कमलेश्वर की कहानी और भाषा-शिल्प के प्रयोग

□

श्री रतीलाल शाहीन

कथाकार के पास अपनी कुछ स्पष्ट और अस्पष्ट अनुभूतियाँ होती हैं। कुछ रोचक और अनकहे अनुभव होते हैं। सूक्ष्म और अमूर्त संवेदनाएँ होती हैं जिन्हें वह कहानी के माध्यम से अपने पाठकों या श्रोताओं व अन्य जनों को पूरी प्रभाव-अन्विति के साथ संप्रेषित करना चाहता है। वस्तुत: आधारभूत नवीनता या नितान्त मौलिकता का दावा कोई भी कथाकार नहीं कर सकता। शराब वही होती है, बोतल बदल जाती है। स्वाद बदल जाता है। यों कह सकते हैं कि ढंग; अंदाज, शैली या प्रस्तुतीकरण और कथ्य ही अलग होता है जो प्रत्येक कहानी को दूसरी अन्य कहानियों से पृथक् करता चलता है। अभिव्यक्ति का यह ढंग या प्रस्तुतीकरण कहानी की आंतरिक बुनावट और कथ्य पर अधिक निर्भर करता है। कथाकार अपनी अनुभूतियों और अनुभवों को ही संप्रेषित करता है। वस्तुत: यह संप्रेषण अनुभूति के स्तर पर होता है। यानी लेखक अपनी अनुभूति को पाठक की अनुभूति के साथ तादात्म्य करता है, एकाकार करता है। इस एकाकार मे वह भाषा को माध्यम बनाता है। शब्द ही तो हमारे सोचने-विचारने का जरिया होते है।

तथाकथित नये कथाकारों को पुरानों से अलग दिखना था, अलग लिखना था। अत: 'कहानी' के आगे 'नयी' शब्द भी जुड़ना था। किन्तु यह 'नयी' शब्द नये कथ्य और भाषा शैली के अभाव में शून्य हो जाता। कथ्य से भी ज्यादा 'अपने समय की' भाषा की खोज बहुत जरूरी थी, ताकि उनका अपना वक्तव्य पाठकों तक पहुँचे। कमलेश्वर के खुद के शब्दों में, "इस प्रक्रिया की दो ही दिशाएँ हैं—लेखक या तो अपनी भाषा खोजे या अपने समय की भाषा खोजे। जब वह अपने समय की भाषा खोजता है, तब वह अपनी भाषा को भी उसी मे समाहित कर देता है। लेकिन समय की भाषा को अपनी भाषा में समाहित कर सकना सबके लिए संभव नहीं होता।"[1]

कमलेश्वर के सामने अज्ञेय थे जिनकी भाषा अभिजात्यपूर्ण अहं और दर्प से भरी थी। बौद्धिक वर्ग की भाषा थी उनकी। कमलेश्वर के सामने जैनेन्द्र थे जिनकी भाषा एक, अपने ढंग की अकेली, व्यक्तिगत भाषा थी। यह व्यक्तिगत भाषा, किसी बात को कैसे कहा जा रहा है, पर ही जोर देती है। कमलेश्वर के सामने प्रेमचद थे जिनकी अपनी खोजी हुई भाषा थी जो समकालीन समस्त गद्य-साहित्य की भाषा थी। वह उनकी अपनी भाषा थी और साथ ही साथ उस समय की भाषा भी बन गयी थी। यही उस भाषा की महानता भी थी। अत: कमलेश्वर भाषा और शैली के चयन को लेकर भी सतर्क थे।

'राजा निरबंसिया' से लेकर 'बयान' तक की उनकी कहानियों के अध्ययन के उपरांत एक बात निष्कर्षतः कही जा सकती है कि कमलेश्वर की कहानियों की प्रकृति-शैली आत्माभिव्यक्ति की नहीं है, वरन् सतत क्रियाशील और रचनात्मक बदलाव की है। उनमें संबोधन और अभिव्यक्ति की बेचैनी है। 'राजा निरबंसिया' (सन् १९५६) और 'कस्बे का आदमी' (सन् १९५८) संग्रहों में कहानियों का परिवेश कस्बे और गाँव की जिंदगी का है। कुछ कहानियों में गाँव पर शहरीयत की यांत्रिकता और निरंतर दबाव पड़ते रहने का प्रभाव दृष्टिगत है। 'खोयी हुई दिशाएँ' (सन् १९६३) से कमलेश्वर की कहानियाँ एक नया मोड़ लेती हैं। इनमें महानगरीय अजनबीपन और क्रूरता की अभिव्यक्ति है। कस्बे से आया हुआ आदमी महानगर में स्वयं को निपट अकेला और अजनबी महसूस करता है। उसकी पहचान खो जाती है। महानगर का यांत्रिक बोध उसकी सहजता को लील लेता है। शहरों में एक व्यावसायिक पहचान व्याप्त रहती है। वह अकबका जाता है। शहराती आपाधापी उसे निरन्तर बेचैन किये रहती है। 'जिंदा मुर्दे' (सन् १९६९) में कथाकार इस अकबकेपन को व्यंग्य-तत्त्व से पकड़ता नजर आता है। 'मांस का दरिया' शहराती अजनबीयत और खंडित जीवन की भंगिमाओं को मूर्त करता है। 'बयान' (सन् १९७२) और 'श्रेष्ठ कहानियाँ' (सन् १९७६) में वह उस जीवन की तलाश करता है जहाँ आदमी की पहचान और इयत्ता खो गयी है। एक अघोषित युद्ध जहाँ हर आदमी के भीतर ही भीतर विकासमान है। इन अन्तिम दो संग्रहों की कहानियों में एक निरन्तर विकास और रचनात्मक बदलाव द्रष्टव्य है। यह बदलाव कथ्य और अभिव्यक्ति के स्तर पर तो है ही, शैली के स्तर पर भी है।

कमलेश्वर की कहानियों में चक्करदार या घुमाववाला शिल्प नहीं है जो कि कहानी को समझने में बौद्धिक कसरत करवा देते हैं। यदि शिल्पगत जड़ता, उदाहरणार्थ 'मैं और फालतू आदमी' में कहानियाँ कहीं आई है तो वह महज प्रयोगशीलता और कथ्य की वजह से ही उतर आई है। कमलेश्वर की कहानियों के भाषा-शिल्प और शैलीगत विशेषताओं को उपशीर्षकों के अन्तर्गत बाँटा जा सकता है। लेकिन एक बात फिर भी जोड़ी जा सकती है कि कमलेश्वर की कहानियों ने कहानी की शास्त्रीय एकरूपता तथा निश्चित व सीमित शास्त्र को तोड़ा है। कहानी की शिल्पगत विशेषता उनकी कहानी की अन्तरात्मा में डूब गयी मिलती है। कथ्य के अपेक्षानुसार ही शिल्प ने अपना आकार गढ़ लिया है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में "थीम को अधिक से अधिक यथार्थग्राही, प्रभावशाली बनाने के लिए कहानी ने कहीं कविता की वातावरण-निर्माण-क्षमता ली है तो कहीं संगीत की सूक्ष्म लयात्मकता, कहीं चित्रकला के घुले-मिले बिंब और प्रतीक लिए हैं तो कहीं स्थापत्य को संतुलित घनता।"[२] 'कस्बे का आदमी' की भूमिका में स्वयं कमलेश्वरजी ने लिखा है, "आज की कहानी का रूप बहुत बदल गया है, अब वह केवल एक बात नहीं कहती, जीवन के एक खण्ड और उस खण्ड की समग्रता में प्रस्तुत करने की चेष्टा करती है। वह सामान्य की समर्थक है और साथ ही विशिष्ट की पोषक, इसीलिए कभी-कभी सामान्य कहानियाँ विशिष्ट को प्रेषित करती जान पड़ती है और विशिष्ट कहानियाँ सामान्य को। सामान्य को विशिष्ट बना देने का गुण मुख्यतः शैली-शिल्प के अधीन है और विशिष्टता को सामान्य में परिणत करने का कौशल लेखक की कला का सामाजिक धर्म। इसी प्रक्रिया से आज रोचकता की रक्षा भी हो रही है।

आज की कहानी की सांकेतिकता और बिम्ब-बहुलता के कारण कहानियों के शिल्प को

पत्रात्मक या समायण प्रधान वर्णनात्मक या पूर्वदीप्ति प्रधान (फ्लैश बैक टेकनीक) जैसे वर्गों में विभाजित करना कठिन हो गया है। फिर भी अध्ययनगत सुविधा के लिए कमलेश्वर की कहानियों में शिल्प और शैलीगत वैशिष्ट्य को निम्न उपशीर्ष दिये जा सकते है —

भाषागत वैशिष्ट्य—कमलेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता उनकी भाषा है जो समर्थ है, प्रांजल है। उर्दूमय है, हिन्दी है, लेकिन कठिन और क्लिष्ट नही। जहाँ जरूरत हुई है, उन्होंने उर्दू के आमफहम शब्दो (सालिम, औकात, खामोशी, चकत्ता, हड़फूटन, आमदरफ्त, मवाद, वक्त, नाबदान, इंतजार, खामोशी, फर्क, खामख्वाह आदि) को उठा लिया है। शब्दकोश के पन्ने नही पलटे हैं, बल्कि पात्र और प्रसंगानुकूल देशज और कस्बई शब्दों का भी इस्तेमाल किया है जो उनकी कहानियों में अनुभूति की प्रामाणिकता के साथ साथ आत्मपरकता की भावना भी उत्पन्न करते हैं। इसीलिए उनकी भाषा जन-जन की भाषा है। चलताऊ है और प्रवाहमय है। खानगी और अदायगी से परिपूर्ण है। इसका एक कारण और भी है। वे कवि नहीं है। कविताएँ नही लिखते, अतः उनका कवित्व कहानियों मे उतर आया है। उनकी भाषा कविता की भाषा है। कविता के बिम्ब उनकी कहानियों में उतर-उतर आए हैं। कविता के सूक्ष्म भावो को थोड़े शब्दो मे कहने का कौशल उनकी कहानियों में मूर्त हुआ है। इस दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

"पर मंदी का सूखा, किसी रोजगार की बेल लहलहाने न पायी।" (भटकते हुए लोग)

"अँधेरा हम लोगों के बोले हुए शब्दों की गूँज भी तेजी से पी जाता था— कुछ बेबसी, अलग उदासी-सी थी। अपनी जगह कसा बैठा था।" (आत्मा की आवाज)

"बाहर बरामदे में आने वालों का शर्माया शोर अब भी था।" (सच और झूठ)

"जहाँ दोनों गलियाँ जमीन पर पड़े सूखते हुए पैजामे की तरह फैली थी।" (पराया शहर)

"टैक्सियों की रोशनियों पर पलकों की तरह कटे हुए काले कागज चिपके है।"
(दिल्ली में एक और मौत)

ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'पानी की तस्वीर', 'पीला गुलाब' व 'नीली झील' कहानियाँ तो संवेदना और भाषा-शैली की दृष्टि से भी कहानी की शक्ल में कविताएँ है।

लेकिन कमलेश्वर की कहानियाँ एकरसता और सपाटबयानी से भी नहीं बच पायी हैं। उदाहरण के लिए 'लाश', 'बयान', 'आधी दुनियाँ', 'साँप', 'फैसला', आदि कहानियाँ हैं। शैलीगत सरलता और आत्मपरकता के कारण ही ये कहानियाँ नीरस होने से बची रह गयी है। विभिन्न कहानियों में एक-सी उपमाओं के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। मसलन— (१) "और कुछ लोग बीच में ही ईसा की तरह सलीब पर लटके हुए हैं" (दिल्ली में एक मौत), (२) "……लोग वैसे ही छड़े पकड़े ईसा की तरह सूली पर लटके हुए हैं" (दिल्ली में एक और मौत)। (३) "…… फिर बस आ जाती है और वह उसमें लटक जाता है" (दुःख भरी दुनिया)।

औपन्यासिक विस्तार—कमलेश्वर की कुछ कहानियाँ उपन्यास का-सा विस्तार लिए हुए हैं, जैसे 'एक अश्लील कहानी', 'नीली झील' और 'राजा निरबंसिया'। लेकिन यह विस्तार कथ्य की आभ्यंतरिक आवश्यकताओं और वास्तविक समस्या के दबाव से उद्भूत है अतः यह फैलाव अपनी सजीवता और महिम अन्विति से परिपूर्ण है

दुहरे कथा-शिल्प की योजना—इस दृष्टि से 'राजा निरबंसिया' एक बहुत ही सशक्त एवं बहुचर्चित कहानी है जिसमें मूल कथा, जगपती, चंदा और कंपाउण्डर बचनसिंह की कहानी के समानांतर राजा और रानी की कहानी चलती है जिसे 'नानी कहा करती थी' प्रारम्भिक वाक्य से प्रसंगानुकूल बीच-बीच में लाया गया है। यह दो युगों के वैषम्य और संवेदना को पकड़ने की ईमानदार कोशिश है। दुहरे कथा-शिल्प वाली कहानियाँ उनके समपीढी कथाकारों द्वारा भी लिखी गयी हैं जिनमें मन्नू भंडारी की 'चश्मे', शिवप्रसाद सिंह की 'बरगद का पेड' तथा राजेन्द्र यादव की 'खेलखिलौने' प्रसिद्ध हैं।

कहानी के भीतर कहानी

कथ्य की आंतरिक अपेक्षाओं के अनुसार कमलेश्वरजी कहानी कहते-कहते उसके भीतर की एक अन्य कहानी का सफल अन्तर्ग्रथन करते चलते हैं। इस दृष्टि से 'नाच', 'मैं', 'फालतू आदमी' और सबसे सशक्त 'मानसरोवर के हंस' कहानी है। 'मानसरोवर के हंस' की मूल व्यंजना व्यवस्था पर व्यंग्य की है। 'मैं' कहानी की तरह उर्दू में बलराज मेनरा, जोगेन्द्रपाल तथा सुरेन्द्र प्रकाश भी इसी कथ्य की कहानियाँ लिख चुके है। मूलत: इस कथ्य-विशेष की कहानी एंटन चैखव की 'आई' कहानी से उत्प्रेरित है। 'लाश' भी इसी व्यंजना की कहानी है।

फ्लैश बैक शिल्प—कहानी की मूल संवेदना को और भी चटक रंग देने के लिए राजनैतिक-सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि का कमलेश्वर बड़े ही कौशल से इस्तेमाल करते है। पूर्वदीप्ति-प्रभाव की-सी यह योजना उनकी 'रातें' और 'बदनाम बस्ती' कहानियों में मिलती है जहाँ तिथि-वार परिवर्तनों की पृष्ठभूमि दी गयी है। यों फ्लेश-बैक शिल्प 'नागमणि', 'एक रुकी हुई', 'कितने पाकिस्तान' में भी प्रतिध्वनि है।

फंतासी (स्वैर-कल्पना) की योजना

सामाजिक प्रयोजनशीलता का आग्रह यह जरूरी कर देता है कि कथाकार अपने उद्देश्य को किसी स्वैर-कल्पना से रूपांकित करे। फंतासी वाली योजना उनकी 'जोखिम', 'अपना एकांत' व 'मानसरोवर के हंस' मे मिलती है। 'जोखिम' मे वित्तमंत्री मोरारजी देसाई का आना तथा 'अपना एकांत' में सोभा के मुरदे का हरकत करने लग जाना बिल्कुल अस्वाभाविक लगता है। फंतासी का लाना इन दो कहानियों में शैथिल्य आने का कारण भी है जबकि 'मानसरोवर के हंस' में हंस की कथा-योजना बहुत ही स्वाभाविक और प्रभावकारी ढंग से संगुंफित है।

प्रतीकात्मक शिल्प—'जिंदा मुर्दे', 'अपने अजनबी देश में', 'अपने देश के लोग', 'लाश', 'लड़ाई' आदि कमलेश्वर की प्रतीकात्मक कहानियाँ हैं जहाँ व्यंग्य-व्यंजना ही मूल अभिप्रेत है। 'जार्ज पंचम की नाक' इस परिप्रेक्ष्य में एक सशक्त रचना है। यों कमलेश्वर की कहानियो के शीर्षक 'साँप', 'इतने अच्छे दिन', 'जोखिम', 'सीखचे', 'स्मारक', 'आधी दुनिया', 'कुछ नहीं, कोई नही', 'या कुछ और' अपने आप में प्रतीक बन जाते हैं क्योंकि मूल कथ्य के साथ वे कहीं इतने सलग्न होते हैं कि मूल व्यंजना को अभिप्रेषित कर देते हैं या कही इतना वैषम्य होता है कि वे व्यंग्यात्मक प्रहार का अस्त्र बनते नजर आते हैं।

वातावरण-प्रधान शिल्प—कमलेश्वर अपनी कहानियों में उस वातावरण को निर्मित करने में सिद्धहस्त हैं जो कि पात्रों की पूरी मन स्थितियों को अनजाने ही गहराई से प्रभावित करता रहता है दूसरे में तमाम निर्णय दूसरों के हाथ चले जाना तलाश में एक से दूसरी ओर

दूसरी से तीसरी क्रिया द्वारा सुखद क्षण की तलाश तथा 'जो लिखा नहीं जाता' में लिफाफे के भीतर सिर्फ एक अनलिखे कागज का आ जाना और जिसमें मोड के निशानों के अलावा कुछ न होना कमलेश्वर की निजी शिल्पगत उद्‌भावनाएँ हैं।

पत्रात्मक शैली—तथाकथित 'पुरानी' कहानी की तरह सम्पूर्ण पत्रावली-शैली के विपरीत कमलेश्वर एकाध पात्रों का कहानी मे आगमन कर कहानी के कथ्य को अ- ति में बाँधे रखते हैं, जैसा कि 'आत्मा की आवाज' तथा 'प्रेमिका' कहानियों से द्रष्टव्य है।

समापन से आरंभ शिल्प—दो मेल खाते और बेमेल रगों का मिश्रण कहानी के भावात्मक प्रत्यावर्तन को बढ़ाने के लिए कहाँ करना है, कमलेश्वर पैदाइशी किस्सागो की तरह इस रहस्य को जैसे जानते हैं, अत: उनकी कहानियाँ जहाँ से समाप्त होती हैं, वही से पाठक के मन में शुरू होती हैं। इसे वे बड़े ही सधे ढंग और समापन से आरम्भ शिल्प से हासिल कर ले जाते हैं। 'देवा की माँ', 'पराया शहर', 'गरमियो के दिन', 'खोयी हुई दिशाएँ', 'दु:खभरी दुनियाँ', 'कस्बे का आदमी' इसी शिल्प की कहानियाँ है।

संश्लिष्ट शिल्प—जमीन की जटिलताओं और विरोधी स्वभावगत संश्लिष्टताओं को कमलेश्वर संश्लिष्ट शिल्प की सहायता से उजागर करते है। 'एक रुकी हुई जिंदगी', 'हवा है, हवा की आवाज नहीं', 'एक थी विमला', 'नागमणि', 'आधी दुनिया' 'ऊपर उठता हुआ मकान', आदि कहानियाँ संश्लिष्ट शिल्प की ही कहानियाँ है जहाँ कमलेश्वर का कलात्मक निखार अपने चरमोत्कर्ष पर नजर आता है। 'बयान', 'जोखिम' तथा 'इतने अच्छे दिन' कहानियाँ भी संश्लिष्ट शिल्प की तरह रखी जा सकती हैं। इन कहानियो का कथ्य इतना ठोस, गहन, सबल और प्रभावपूर्ण है कि इन तीनों कहानियों की भाषा का सपाटपन भी कहानी की संरचना व अन्विति को जरा-भी प्रभावित नहीं करता। इसका कारण यह है कि कमलेश्वर के पात्र अपनी रोमानी कमजोरियों और सामाजिक मजबूरियों के प्रति भी पाठक के मन को बाँधे रहते हैं। यह बँधाव उनकी अपनत्व और आत्मपरक शैली के कारण ही होता है। 'एक थी विमला' में कमलेश्वर ने शिल्प का अनूठा निखार और बाँकपन दिया है जहाँ वह कहानी की शुरुआत करते है, "पहला मकान— यानी विमला का घर।" और विमला की बात खत्म करते हुए लिखते है, "और उस पहले मकान - यानी विमला के घर की यह कहानी यही खत्म हो जाती है क्योंकि अभी इसके आगे कुछ नहीं हुआ है। इस तारीख तक घटनाएँ यही तक पहुँची है।

इसलिए यह बात यही पर खत्म होती है। परमात्मा करे, सबको विमला-जैसी सुशील और समझदार लड़की मिले और किसी की नाक नीची न हो। क्योंकि दुनिया यही चाहती है।"[3] और कथाकार फिर कुंती की कहानी शुरू करते हुए लिखता है—"दूसरा मकान— यानी कुंती का घर।" और कुंती के बाद लज्जा और लज्जा के बाद सुनीता की कहानियाँ भी विमला की कहानी की ही तरह शुरू और खत्म होती है।

सांकेतिक शिल्प—जहाँ तक सांकेतिक शिल्प का प्रश्न है, 'लड़ाई', 'लाश' और 'राले' आदि कहानियाँ प्रतीकात्मक होने के साथ-साथ सांकेतिक भी हैं। यह संकेत-व्यवस्था के दोगलेपन और राजनीति के छिनालपन की ओर है। कमलेश्वर की सभी कहानियों में बिम्ब, प्रतीक और संकेत बहुलता से मिलते है। 'फालतू आदमी' तथा 'अपने देश के लोग' कहानियाँ तो सांकेतिक अस्पष्टता के कारण ही कहानीपन का तत्व खो बैठती हैं 'आत्मा अमर है' का शिल्प पूर्णतया सांकेतिक है

'ब्रांच लाइन का सफर', 'थानेदार साहब', 'धूल उड़ जाती है', 'नौकरी पेशा', 'भटके हुए लोग', 'बायघर', 'नया किसान', 'इंसान और हैवान', 'गाय की चोरी', 'शरीफ आदमी', 'भरे पूरे अधूरे', 'सुबह का सपना' आदि कहानियाँ इतिवृत्तात्मक तथा किस्सागोई के अंदाज और शिल्प की कहानियाँ हैं जिनमें से कुछ कहानियाँ तो अतिसामान्य कहानियाँ हैं। सामान्य शिल्प वाली कहानियों का उल्लेख हमारा ध्येय नहीं है।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि जहाँ तक कमलेश्वर की कहानियों मे भाषा-शिल्प का सम्बन्ध है, उनकी कहानियाँ कथ्य की अपेक्षानुसार शिल्प का चयन कर लेती है। मूलतः सामाजिक सोद्देश्यता पर केन्द्रित होने के कारण कमलेश्वर फंतासी योजना का ज्यादा इस्तेमाल करते हैं। "उस रात वह मुझे बीच कैण्डी पर मिली थी और ताज्जुब की बात कि दूसरी सुबह सूरज पश्चिम में निकला था।" धर्मयुग के १६-८-७० के अंक मे प्रकाशित इस कहानी के नायक का बरसाती रात में भीगते युगल-प्रेमी के पास जाकर पूछना कि, "सुनो! तुम्हारे दुःख कहाँ है?" भी स्वैर-कल्पना की अभिनव शैली है। वस्तुतः ऐसा होता नहीं, लेकिन ऐसा प्रश्न पूछे जाने की संभावना की संभावना हमारे मन मे बार-बार उत्पन्न होती है। यह कमलेश्वर की अपनेपन मे बाँधने की कला है। यह कला उनकी हर कहानी में विद्यमान है। अपने से पूर्व की कथा-परम्पराओं को तोड़ने के साथ-साथ अपनी कहानियों द्वारा बनायी जमीन को भी निरन्तर तोड़ते और अस्वीकृत करते चलना कमलेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता रही है। 'आजकल — रजत जयन्ती कहानी-विशेषांक' मई-७० मे प्रकाशित 'मैं' कहानी से भी केवल दो बातें जाहिर होती हैं। कमलेश्वर प्रयोगधर्मी कथाकार है, अतः 'मै' कहानी को या तो हम ऐसा मोड़ मान सकते है जहाँ कहानी अपनी सीमाएँ लाँघ कर नये आयामों की खोज मे संलग्न दिखाई देती है या कमलेश्वर जी ने कथा-लेखन-क्षेत्र में छाये सन्नाटे को तोड़ने और कथाकारों को छेड़ने के लिए एक शोशा छोड़ दिया है कि "देखो! कहानी यों भी लिखी जा सकती है!"

अंत में, सुधा अरोड़ा के शब्दों में कह सकते हैं, "निस्संदेह कमलेश्वर की बहुत-सी कहानियाँ शिल्प और प्रयोजन-प्रवणता के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, परन्तु उन कहानियों की भी सफलता या संप्रेषणीयता का प्रमुख कारण उनका शिल्प न होकर उनका कथ्य है जो परिवेश-तप्त सच्चाइयों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द में ढाला गया है।"

संदर्भ-संकेत

१. पृ० १६८—नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर। २. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव। ३. 'कस्बे का आदमी'—भूमिका—कमलेश्वर। ४. पृ० १७५—समांतर रचना-दृष्टि और कमलेश्वर की कुछ कहानियाँ—'कमलेश्वर' सम्पा०—मधुकर सिंह।

३७, नवपाड़ा, बांद्रा पूर्व
बम्बई—४०००५१

भारती और कमलेश्वर की कहानियाँ

☐

प्रो० कृष्ण कमलेश

हिन्दी कहानी की विगत तीस वर्षों की अन्तर्यात्रा एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्यात्रा रही है। इस मध्य इस विधा में निरन्तर नये स्वर, नये मूल्य, नये प्रतिमान और नयी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ। समसामयिकता का आग्रह करने वाली कहानियो में ग्रामीण और नागरिक जीवन के विविध परिपार्श्वों को अभिव्यक्ति मिली है। अधिकांश कहानीकारों ने ग्रामीण कथानकों के बदले नागरिक कथानक चुने हैं। दौड़ती हुई सभ्यता, अतृप्तियो के अस्थिर आकर्षण और बौद्धिकता के अतिरंजित और कृत्रिम मूल्य इस प्रकार के सृजन मे विशेष रूप से चित्रित हुए हैं।

नयी कहानी की विकासशील संचेतना में दोनों ही कहानीकार भाषा, शिल्प एवं शैली के क्षेत्र में सार्थक और जीवन्त प्रयोग करते रहे, आज भी कर रहे हैं। कस्बाई मनोवृत्ति का दृश्यचित्रा से अपना सृजन प्रारम्भ करने वाले भारती और कमलेश्वर की कहानियों मे आशा, निराशा, आस्था, अनास्था, क्रोध, दया, विद्रोह, पलायन, अस्वीकार, कुछ नया गढ़ सकने की छटपटाहट आदि कई स्वरों का व्यापक समावेश है। कमलेश्वर जहाँ अपने परवर्ती सृजन मे उच्च मध्य-वर्गीय जीवन की विडम्बनाओं, कुठाओं, ग्रन्थियों मे केन्द्रित है, वहाँ भारती निम्न और मध्यवर्गीय जीवन की मूर्त पीड़ाएँ व्यंजित करने मे निरन्तर संलग्न हैं।

वास्तविकता यह है कि नयी कहानी का पिछले तीन दशक का इतिहास भारती और कमलेश्वर के सन्दर्भों के बगैर लिखा ही नही जा सकता। भारतीयता का आधुनिक युगबोध के साथ समन्वय का प्रयत्न इन दोनों कहानीकारों की सुलझी हुई जीवन-दृष्टि का परिचय देता है और व्यापक अर्थों में इन्हें अपने समय का जागरूक और चौकन्ना गवाह भी बना देता है। गवाहों के बयान तो अलग-अलग होते ही हैं। उनकी अपनी ग्रहणशीलता और अभिव्यक्ति-सामर्थ्य ही तो उन्हे निजता प्रदान करती है।

धर्मवीर भारती और कमलेश्वर इस समसामयिकता के साथ भारतीयता को असंपृक्त नही मानते। कमलेश्वर के अनुसार—

"लेखक का दायित्व एक सामान्य नागरिक के दायित्व से अलग नहीं होता, अन्तर होता है तो सिर्फ तीव्रता और गहराई का। जिसे सामान्य जन तकलीफ-आराम, सुख-दुःख, आशा-निराशा जैसे शब्दों से प्रकट करता है, लेखक उन्ही को समय की पीठिका में उभरे मूल्यगत प्रतिमानों से प्रकट करता है। जीवन-मूल्यों की यह खोज ही नयी कहानी की वैचारिक आधार-भूमि है इसीलिए नया लेखक मनोरंजन करने और पेशेवर कहलाने से कतराता है क्योंकि उसके लिए कहानी लिखना केवल जीवन-यापन की मजबूरी नहीं है वह इस सारे विक्षोभ

अनास्था और टूटने के बीच रहकर विशिष्ट या मसखरा नहीं बनना चाहता, वह एक जिम्मेदार आदमी की तरह पेश आना चाहता है।"[१]

कमलेश्वर ने भारतीयता को आधुनिक युगबोध के साथ जोड़ने का प्रयास अपनी समझ से किया अवश्य है, लेकिन इस प्रयास में वह कई बार केवल अभिजात्य-प्रदर्शक बनकर रह गये है या कई बार प्रयोगशीलता कोई नये प्रतिमान स्थापित नहीं कर सकी है।

भारती अपने रचनात्मक और सैद्धान्तिक; वैचारिक स्तर में किसी प्रकार का मतभेद नही रखते। वे जो सोचते हैं, वही लिखते हैं और लेखन के सम्बन्ध में उनकी धारणायें एवं प्रतिमान उनके अपने सृजन से ही प्रेरित और प्रभावित हैं—

"अपने इतिहास से, अपने समय से, अपने परिवेश से, अपनी परिस्थितियों से अपना सम्पृक्ति को ईमानदारी से समझना, समस्त जीवनी-शक्ति से यथार्थ को झेलना, अपने पूर्ण उद्‌बुद्धि विवेक से ग्राह्य और अग्राह्य को जांचना, पूर्ण साहस से जो कठोर सत्य मिले, उसे स्वीकारना और जीवन से सम्पृक्ति हमें जो भी कठिन भूमिका या दायित्व सौंपती है, उसे पूरी निष्ठा से निर्वाह करना, यही राह लेखक की सदा से रही है।"[२]

भारती ने इस गम्भीर उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। 'बन्द गली का आखिरी मकान' आज के युग का प्रामाणिक अभिलेख है। धर्मवीर भारती आगे लिखते है—

"जब जब उसने भागना चाहा है या शार्ट-कट खोजना चाहा है तो उसने हमेशा अपने को छला है। अपने विवेक को दूसरे के साथ सौंप कर दलगत राजनीति के आगे घुटने टेक देना एक शार्ट-कट की खोज है और अपनी व्यापक सम्पृक्ति को भूलकर निर्वाण या मुक्ति या सुरक्षा की एक निजी खोल ओढ लेना, अपने इतिहास, परिवेश, परिस्थिति से निस्संग मानकर केवल निजी सुरक्षा या निजी भ्रांति को मुक्ति या निर्वाण मान लेना भी दूसरे ढंग से शार्ट-कट की खोज है।

ऐसे शार्ट-कट हमेशा अजीब नतीजों की ओर ले जाते हैं।[3]

कमलेश्वर ने कई बार अपनी सूत्रबद्ध कहानियों द्वारा आसान रास्ता खोजना चाहा है, अपने आपसे भागना चाहा है। 'नंदा' और 'रेवा' जैसे अविस्मरणीय नारी-चरित्र गढ़ने वाला कमलेश्वर व्यक्तित्वहीनता की धुंध में खोता चला जाता है। पात्र और व्यक्तित्व उनके हाथो से छूटते चले जाते है। उनके पास बच रहती है स्थितियों की निर्जीव और ठण्डी पकड़। आधुनिकता और शैलीबद्धता के प्रति उनका आग्रह निरन्तर तीव्र और तीव्रतर होता जाता है।

भारती की कहानियों का प्रारम्भ जनवादी आन्दोलनों से अवश्य जुड़ा हुआ रहा है, किन्तु प्रगतिशीलता की सिद्धान्तवादिता का प्रभाव उनकी कहानियों में नहीं है। अपितु आस्था, विश्वास तथा संघर्षशील क्षमता का स्पष्ट परिदर्शन है। उनकी कहानियों में सामाजिक विसंगतियो के निराकरण तथा नये सामाजिक रूपविधान की व्यवस्था की आकुलता है। इसके साथ ही व्यक्ति की गरिमा और उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की सांकेतिकता ध्वनित है। वह नये परिवर्तित जीवन-मूल्यों की भाषा एवं परिभाषा खोजने के लिए निरन्तर सचेष्ट रहे हैं।

भारती के ही लगभग समकालीन कमलेश्वर की कहानी-क्षेत्र में उपलब्धि यह है कि उन्होंने मानवीय चेतना के सामाजिक और व्यक्तिपरक बँटवारे की रूढि तोड़नी चाही है और यह प्रतिपादित किया है कि वैयक्तिक चेतना अपने सन्निकट रूप में सामाजिक सम्बन्धों और

उनका प्रतिक्रियाओं का भी मिला जुला रूप है नये नगर जीवन की परिव्याप्ति उनकी अधिकांश कहानियों के पात्रों में नवीन भावरूपों एवं प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। कस्बे के जीवन सत्य से एकाकी डाक बंगले की भावानात्मक, वैयक्तिक और नगर की भीड़ में अकेलेपन की सम्बन्ध हीनता की पीड़ा को झेल रहे पात्रों की आन्तरिकता के उद्‌घाटन तक उनका एक महत्त्वाकांक्षी कहानीकार का रूप उभरता है। उनका ईमानदार आत्म-स्वीकार रेखांकन-योग्य है—

"कला के स्तर पर हर कहानी मेरे लिए बहुत कठिन विधा है। हर कहानी चुनौती बनकर सामने आती है और उसके सब सूत्रों का सम्भालने में नसें फटने लगती है, यह कठिन परीक्षा का समय होता है।"[४]

भारती का कहानीकार व्यक्तिवाद की अँधेरी गुफा में भटक कर नहीं रह जाता। उनका कवि उनके कहानीकार के आड़े नहीं आता और वह नंगे हाथों सच्चाई छूने का भरसक प्रयत्न करते रहे हैं।

बहुमुखी प्रतिभा

हिन्दी कहानी-साहित्य में पहले कथाकार धर्मवीर भारती और तदनन्तर कमलेश्वर का प्रवेश ऐतिहासिक घटना के समर्थ बिन्दु हैं। भारती हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ कथाकारों मे एक हैं। हिन्दी कहानी-जगत् में उनकी-सी प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि लेकर दूसरे साहित्यकार बहुत कम संख्या मे दिखाई पड़ते हैं। जीवन के अनुभव और पर्यवेक्षण में कल्पना की विधायिका शक्ति का योग देकर उन्होंने महान् साहित्य की सृष्टि की। उनकी कृतियाँ उनके अन्तर्मन से निकली प्रतीत होती हैं। उनकी कहानियाँ वाङ्मय-जीवन की व्याख्या से पूर्ण हैं। उनकी कहानियों में उनके युग की गूंज स्पष्ट सुनाई पड़ती है। समाज में दमन, शोषण तथा ताड़ना का बहुत ही सुन्दर चित्र उन्होंने खींचा है एवं इस दृष्टि से उन्हें प्रेमचन्द के समकक्ष रखा जा सकता है। दमन एवं शोषण की जैसी व्यापकता का चित्रण प्रेमचन्द की कहानी एवं उपन्यासों में मिलता है, उतना ही धर्मवीर भारती में भी प्राप्त होता है। भारती की कहानियाँ जमींदार, किसान, मजदूर, पूँजीपति, धर्म के ठेकेदार, अछूत, समाज से बहिष्कृत व्यक्ति तथा नारी के अनेकानेक रूप में चित्रण प्रस्तुत करती हैं। उनकी श्रेष्ठता का सबसे बड़ा कारण यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने हिन्दी के प्राचीन कहानीकारों द्वारा स्थापित परम्परा को छोड़कर, पुरानी मान्यताओं को त्यागकर हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में नवीन मान्यताएँ स्थापित की। उन्होंने चिर-उपेक्षित पात्रों को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया।

प्रेमचन्द एवं धर्मवीर भारती

कथाकार के रूप मे धर्मवीर भारती की तुलना हिन्दी के महान् कहानीकार प्रेमचन्द से की जा सकती है। प्रेमचन्द निःसन्देह एक महान् कथाशिल्पी हैं। कहानियों मे—कफन, मन्त्र, सवा-सेर गेहूँ तथा पूस की रात उनकी कहानी-प्रतिभा के ज्वलन्त तथा शाश्वत उदाहरण हैं। कथाशिल्प और विधान की दृष्टि से वे भारती की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं प्रभावात्मक है। किन्तु जीवन-व्याख्या की व्यापकता की दृष्टि से धर्मवीर भारती का स्थान उनके समकक्ष ही आता है। प्रेमचन्द तथा धर्मवीर भारती दोनों ने ही समाज के विभिन्न स्तरो तथा उपेक्षित प्राणियों के चित्रण में अपनी कला को व्यस्त किया है। युग की समस्त प्रवृत्तियाँ उनकी कहानियो में प्राप्त होती है। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दायित्व का निर्वाह बड़ी अदम्यता

से किया है। हाँ, लोकमंगल की दृष्टि से जहाँ प्रेमचन्द प्रत्यक्ष रहे हैं—वहीं धर्मवीर भारती ने अप्रत्यक्ष ढंग से इस ओर इंगित किया है। भारती की कहानियों में कभी-कभी नैराश्यमूलक विषादासक्ति अवश्य प्राप्त होती है जबकि प्रेमचन्द में इसकी सर्वत्र न्यूनता है।

प्रेमचन्द साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन मात्र ही नहीं समझते थे, अपितु उससे अधिक समाज-कल्याण का एक प्रमुख साधन भी मानते थे। अपने साहित्य में उन्होंने समाज का जहाँ यथार्थ चित्रण किया है, वहाँ इस चित्रण के पीछे उनका उद्देश्य सदैव यह रहा है कि पाठक सुधार की ओर प्रवृत्त हो सके एवं इसी कारण उनके साहित्य में आदर्शवादिता का बहुतायत प्रभाव लक्षित होता है। उनका सुधारवादी दृष्टिकोण उन्हें यथार्थवादी भूमि से बलात् खींचकर काल्पनिक समाधानों की भूल-भुलैयों मे भटकाता रहता है।

साहित्य के उद्देश्य के विषय मे धर्मवीर भारती के विचार प्रेमचन्द के विचारों का समर्थन करते थे। उन्होंने साहित्य को मनोरंजन के स्थान पर सामाजिक विपन्नताओं को दूर करने का साधन माना। परन्तु वे प्रेमचन्द की तरह आदर्शवादी नहीं हो सके। उन्होंने जीवन की समस्याओं का ज्यों का त्यों चित्रण सामने रखा। वे मानते थे कि व्यर्थ में ही पाठक को प्रभावित करने के दृष्टिकोण से आदर्शवादिता का समावेश साहित्य को उपदेशात्मकता का रूप दे देता है। 'भारती' मानते है कि समाज एवं व्यक्ति की अवस्था का कच्चा-चिठ्ठा पाठक के सामने रख देना चाहिए। इसका असर पाठक पर अपेक्षाकृत अधिक एवं स्थायी होता है।

'भारती' परम्परा को एकदम ठुकराना नहीं चाहते। इस दृष्टि से वे टी० एस० इलियट के समर्थक हैं। 'ट्रेडीशन एण्ड इण्डिवीजुअल टैलेण्ट' में इलियट की स्पष्ट मान्यता है कि 'काव्य के क्षेत्र मे पूर्ण मौलिकता जैसी कोई चीज नही होती जिसमें अतीत का योगदान हो।' भारती भी इसी दृष्टि के समर्थक हैं। 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' में मायकोवस्की से असहमति प्रकट करते हुए गोर्की, लेनिन और मार्क्स के उदाहरणों द्वारा उन्होंने प्राचीन साहित्य-परम्पराओं के समादर पर बल दिया है। किन्तु इसके बावजूद व्यक्ति का अपना महत्व है, क्योंकि वही साहित्य का आधार है। 'जीवन और मौत, दुःख और सुख, अँधेरा और उजाला, अतीत और वर्तमान सभी की अभिव्यक्ति साहित्य मे, व्यक्ति के माध्यम से होती आई है और होती रहेगी।'[१] कमलेश्वर अत्याधुनिक होने के प्रयत्न मे परम्परा से टूटना चाहते हैं। जब-जब उन्होंने ऐसा करना चाहा है, शीर्षक से लेकर शिल्प के बहुविध स्तर तक वे केवल चौंका सके है, चमत्कृत कर सके हैं, स्थायी महत्त्व का सृजन नहीं दे सके हैं।

प्रेमचन्द एवं धर्मवीर भारती दोनों ने ही अपने साहित्य में आदि से अन्त तक सर्वत्र आर्थिक असमानता को ही सब प्रकार की सामाजिक विषमताओं का मूल कारण बताया। दोनों की रचनाओं में ऐसे समाज का चित्रण है जिसमें धर्म और कर्म के नाम पर जमींदार, साहूकार, पंडित, ढोंगी नेता, सरकारी कर्मचारी आदि सभी अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के पोषण के लिए गरीब जनता का खुलकर शोषण करते हैं और जनता एवं समाज उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाते। भारती को कहानीकारों की एक पीढ़ी साथ लेकर चलने की चिन्ता नही थी, वे स्वांतःसुखाय लिखते गये, 'परजनहिताय' उसमे अपने आप समाविष्ट होता गया। कमलेश्वर के पास आरम्भ से ही नारेबाजी, घोषणाएँ, सूत्रबद्ध समीकृत समीक्षाओं और टिप्पणियों की आवश्यकता अनुभव होने लगी, इसीलिए उनकी तथाकथित वैचारिक जागरूकता जहाँ चर्चा का विषय तो रही किन्तु वह कालांतर में और स्थायी महत्त्व का सृजन नहीं दे सकी।

अपने पहले दौर की कहानियों में, जैसा कि कमलेश्वर का दावा है, जीवन और उसके परम्परागत मूल्यों के प्रति पात्रों की असहमति ही मेरी असहमति भी है। अपनी दो-तीन कहानियों में समर्थ कहानीकार बनने की समस्त सम्भावनाएँ रखते हुए भी कमलेश्वर इस दौर की अपनी अन्तिम कहानी 'नीली झील' तक आते-आते जीवन और परम्परागत मूल्यों / संस्कारों से सतही अर्थों में ही असहमत हो सकते है। कहीं उनकी असहमतियाँ विनम्र है तो कही उग्र। शाब्दिक असहमतियाँ अमर कथ्यों का सृजन नहीं कर सकती। वे कथा के समर्थ मीमांसक तो बन जाते है, किन्तु कथा-मीमांसा और रचना के बुनियादी सरोकार अलग-अलग प्रश्न है। वे बुनावट से उलझ कर रह जाते हैं और क्या बुना जाना है—यह भूल जाते है। 'मांस का दरिया' और 'रातें' में समर्थ और समर्थतर कहानी बन सकने की सम्भावनाएँ थीं। कमलेश्वर उन सम्भावनाओं को सही ढंग से विकसित नहीं कर सके। 'मांस का दरिया' का पका हुआ फोडा वह यथार्थ बोध तीव्रतर और विश्वसनीय ढंग से उजागर नहीं कर पाता जो 'धुआँ' कहानी में धर्मवीर भारती आग लगने के माध्यम से कर लेते है। भारती सामूहिक मनोवृत्ति के कटु और सहज स्वाभाविक पक्ष उद्घाटित करते हैं। एक बनिये ने अन्धी को अठन्नी देकर अपनी परपीडन ग्रन्थि का व्यवस्थित प्रारम्भ किया। अन्दर ले जाकर वह उसकी पोशाक में जलती हुई छछुन्दर छोड़ देता है। पूरी सराय मे आग लग जाती है। बिचारी अन्धी उसी मलबे मे जलकर रह जाती है। यह मलवा, यह बनिया हमारे तन्त्र की कमजोरियों और साधन-सम्पन्न वर्ग के प्रतीक हैं।

कमलेश्वर की अधिकांश कहानियाँ एक नये तरह के पाठक की माँग करती है, ऐसा पाठक जिसे मौन असृप्तिजन्य कुंठाओं के वर्णन / विवरण में विशेष रस आता हो। 'मांस का दरिया', 'रातें' जैसी कहानियाँ जागरूक पाठक भी नही पसन्द करेंगे, सामान्य जन का तो प्रश्न ही नही उठता। धर्मवीर भारती की लगभग सभी कहानियाँ एक अलग तरह के पाठक की माँग नहीं करती, वे सामान्य अनुभवों को इस तरह नया सन्दर्भ देती हैं कि पाठक को कहीं भी संस्कारगत धक्का नहीं लगता। नयी कहानी की यही शक्ति भी है, पर यही सबसे बड़ी सीमा भी। जन-रुचि, व्यावसायिक सफलता, सूत्रों के अनुसार व्याख्या के रूप मे कहानी गढ़ने का प्रयत्न कमलेश्वर मे मिल सकता है, भारती में नहीं। कमलेश्वर के पास सीमित विषय है, उनका अनुभव-बोध भी सीमित है, भारती के पास विषयों की विविधता है। कमलेश्वर कवि न होते हुए अपने भीतर के स्वच्छन्दतावादी कवि-संस्कारों से अपने को छिटक नहीं पाते, भारती अपने कहानी-रचना-संसार मे अपने कवि-संस्कार ऐसे छिटक देता है जैसे कवि भारती और कहानीकार भारती दो अलग अस्तित्व हों।

नई कहानी : विकास-यात्रा की उपलब्धियाँ

कई बार ऐसा होता है कि एक छोटी-सी बात या साधारण किस्म की घटना या कोई नगण्य-सी स्थिति हृदय को अभिभूत कर देती है, इस छोटी बात की चेतना असामान्य होती है। अपने साधारण परिवेश में ही वह अस्तित्व की सार्थकता-असार्थकता का बोध कराती है, सीमाओ के अन्तर को प्रकाशित करती है। मानसिक जाले साफ कराती है और व्यवस्था के प्रति तर्कातीत सम्मोहन को तोड़ती है। एक लघु दायरे में भी कलाकार मर्म की सृष्टि करता है और सम्बन्धो, तनावों, गर्भनिरोधकों, प्रणय-व्यापारों, राजनीतिक दीवारों आदि की प्रामाणिक व्याख्या करता है। इन्हें हम लघु कथाएँ कहते हैं।

लघु कथाए अधिकतर कवियों ने लिखी हैं क्योंकि ये कथाएँ फैंटेसी के करीब होने से

कविता की आत्मिक छटपटाहट लिये होती हैं। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल, मणि मधुकर तथा प्रयाग शुक्ल ने छोटी कथाएँ की है। यह क्रम हिन्दी में 'धुआँ' (धर्मवीर भारती) के बाद व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ हुआ है। 'धुआँ' के माध्यम से हिन्दी के प्रथम और युग-प्रवर्तक लघु कथाकार के रूप में भारती अपनी पहचान बनाते हैं। इस लघुकथा से प्रेरित और प्रभावित होकर नया और व्यापक सृजनोन्मेष कमलेश्वर तथा अन्य समकालीन कहानीकारों में विकसित हुआ। इनमें मणि मधुकर अधिक कहानियाँ लिख पाये है, मणि मधुकर की कहानियाँ जीवन की गहरी तहों से दूर चमत्कारवादी रचनाएँ बन गयी है। अप्रत्याशित रूप से आये पात्र, परिस्थितियाँ तथा परिवेश के कारण इन कहानियों की चालू फैशनपरस्ती साफ जाहिर होती है। इनकी कथा-मूर्तियाँ विज्ञापन-कारी हैं, उनमें रचनात्मक सौन्दर्य नहीं है, भाषा में विलक्षण व्यंजकता भर देने से तथा जिन्दगी की ऊलजलूल परिभाषा देने से चमत्कार के अतिरिक्त कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। चमत्कार-वादी रघुवीर सहाय तथा रमेश बक्षी भी हैं। पर वे इतने विलक्षण, इतने सारहीन नहीं हैं।

शत्रुघ्नलाल ने 'खाई' में एक बडे अफसर की बच्ची के जन्मदिन के माध्यम से दो सीमाओं का अन्तर स्पष्ट किया है। जन्मदिन में आमन्त्रित लोगों के बीच पद व वेतन की सारी औप-चारिकताएँ मौजूद हैं, पर स्नेह की पहचान नहीं है। 'सामान' में प्रयाग शुक्ल ने पति के साथ यात्रा से लौटी एक पत्नी के मानसिक तनावों का जिक्र किया है जो इस भय से आक्रांत है कि वह टेबुल क्लाथ और सोप केस पीछे छोड़ आयी है और पति की नाराजगी का सामना करने वाली है। जब पति इस खबर से प्रभावित नहीं होता, तब उसकी मानसिक उद्विग्नता समाप्त होती है।

मनूहर चौहान ने "मीना बहुत खराब है" में जीवंत शैली में मीना को घूरने वाले एक व्यक्ति और उसकी सीधी-सादी पतिव्रता पत्नी का मनोविज्ञान प्रस्तुत किया है। निरोधकों और भ्रूण-हत्या करने वाली ओषधियों के बीच भी गर्भ में जो बीज पड रहा है, वह अक्षत है, सम्पूर्ण है, यह बात रघुवीर सहाय की कहानी 'स्पर्शी विजेता' में अभिव्यक्त हुई है। मोहन राकेश ने अपनी जानी-पहचानी शैली मे "सोया हुआ शहर" में रात्रि की नीरव स्तब्धता में शहर मे घटने वाली तन-विक्रय, गुण्डा-गर्दी और गुण्डों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताओं की घटनाओं का बड़ा सफल वर्णन किया है। यों लघु दायरे में रचनाकार ने वर्तमान तस्वीरें उतारी है।[2] फालतू आदमी, गर्मियों के दिन, दूसरी सुबह, सूरज पश्चिम में निकला था, दूसरे (कमलेश्वर) आदि लघुकथाओं मे कमलेश्वर एक और सूक्तिकार भी बने रहना चाहते हैं और दूसरी ओर अनावश्यक भराव भी देते जाते हैं। इन्हीं लघुकथाओं को वह और सुगठित तथा कसा हुआ भी बना सकते थे। निष्कर्ष यह है कि धर्मवीर भारती से प्रभावित/प्रेरित लघु कथाकारों मे जहाँ स्वयं कमलेश्वर भी है, वहाँ शत्रुघ्नलाल, माहेश्वर, रघुवीर सहाय, मणि मधुकर, प्रयाग शुक्ल, भगीरथ परिहार, कृष्ण कमलेश आदि लघु कथाकारों की एक गंभीर रूप से सृजन-कार्य में संलग्न लघु कथाकारों की एक पूरी पीढ़ी भी है।

भारत की लघुता, सूक्ष्मदर्शिता की यही विशेषता उन्हें अन्य समकालीन कवि-कहानीकारों रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, मणि मधुकर, प्रयाग शुक्ल से महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बना देती है। लगभग विपरीत ध्रुवों पर ही लेखन का मूल्य और महत्त्व निश्चित होता है। धर्मवीर भारती जहाँ श्रेष्ठ और समर्थ लघु कहानियाँ लिख सके है, वहाँ उन्होंने सार्थक लघुबोधी लम्बी कहानियाँ भी दी हैं।

हिन्दी कहानी की अधिकतम शब्द संख्या में छठे दशक के प्रारम्भ से ही परिवर्तन आना प्रारम्भ हुए। ये परिवर्तन रचनात्मक और सृजनात्मक भावभूमियाँ लिये हुए रहे हैं। सामूहिक उत्पीड़न के इस दौर में आज का कहानीकार ढेर सारे अन्तर्विरोधों को जीने के लिये बाध्य है। जहाँ धर्मवीर भारती की लम्बी कहानियाँ 'बंद गली का आखिरी मकान', 'गुलकी बन्नो', 'आश्रम' आदि सभी अन्तर्विरोधों को उकेरने में जागरूक और ईमानदार प्रमाणित हुई हैं, वहां कमलेश्वर की अधिकांश, बल्कि सभी लम्बी कहानियाँ अनावश्यक फैलाव में उलझकर रह गयी हैं। कहानी, लम्बी कहानी और लघु उपन्यास में केवल आकार का ही नहीं, प्रवृत्तिगत अन्तर भी है। लम्बी कहानी की अन्तर्यात्रा कहानी या उपन्यास की अन्तर्यात्रा से हटकर है। कहानी, लघु उपन्यास या उपन्यास की अन्तर्यात्रा एक अरसे तक एक अकेले प्रेमी की अन्तर्यात्रा रही है, वह केवल अपनी आप-बीती लिखता रहा है, आत्मरति की ग्रन्थि से पीड़ित रहा है, लेकिन लम्बी कहानी अक्षरशः परिवेश से जुड़ी हुई है। लम्बी कहानी का सर्जक अपने दायित्व-बोध से भलीभाँति अवगत है। लम्बी कहानी का सृजन हो सकता है, एक विकल्प की स्थिति में प्रारम्भ हुआ है और वह भी हो सकता है सायास या आत्मसजग होकर किया जाय। कई बार कहानीकार कहानी लिखना चाहता है, लेकिन पूरी होते-होते वह लम्बी कहानी बन जाती है। वह अपने चित्रण के लिए फैलाव जरूरी पाता है, बस इसलिये। और कई बार कहानीकार उपन्यास या लघु उपन्यास न लिख पाने की विवशता में भी लम्बी कहानी लिख जाता है। वैसे लम्बी कहानी एक ही रूप, एक ही कोण-प्रतिकोण लेकर चलती है, औपन्यासिकता जितनी समग्रता उसमें सम्भव नहीं।

फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम', कृष्णा सोबती की 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'डार से बिछुड़ी', महेन्द्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स', राजकमल चौधरी की 'एक आदमी गुस्से में', यशपाल की 'संकटमोचन',* 'कुणाल' श्रीवास्तव की 'सालो सराय की राधा', कमलेश्वर की 'मांस का दरिया', 'नीली झील', 'राजा निरबंसिया', राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' और 'टूटना' आदि चर्चित लम्बी कहानियाँ हैं।

'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुल्फाम' उन अर्थों में लम्बी कहानी नहीं है जो आज लम्बी कहानी की अवधारणा बन गयी है। रेणु एक कहानीकार से अधिक कथागायक हैं और वे स्वर-लहरियों या स्वरलिपि के माध्यम से कहानी कहते हैं। कहानी और गीत दोनों एक ही जगह इनमें केन्द्रित हो जाते हैं, आंचलिक कहानियों में चित्रित अंचल-विशेष का ही कहानी का नायक रहता है, किन्तु 'तीसरी कसम' में ऐसा नहीं हुआ। इसमें हीरामन व हीराबाई दोनों का ही चरित्र उभर कर सामने आया है। स्थिति-चित्रों से अलग मानव की भाँति सर्वाधिक सार्थक दिशाओं में प्रगतिशील, प्रयोगशील प्रेरणाओं का उपयोग उन्होंने किया है। पूरे पठन में 'तीसरी कसम' एक पटकथा है, लम्बी कहानी नहीं। रेणु की ही भाँति यह सीमा कमलेश्वर की भी रही है। आज की कहानी रोमांटिक संवेदना और चरित्र के गढ़े-गढ़ाये सूत्रों से आगे बढ़ चुकी है। कथ्यहीनता से ऊँचे क्षुब्ध एवं आक्रान्त सामान्य पाठक लम्बी कहानी को सही कहानी मान बैठते हैं, प्रमुख पाठक भी इसे धीरे-धीरे सिद्धांततः स्वीकार कर रहा है।

धर्मवीर भारती लम्बी कहानियों में भरपूर असीमित वार्ताओं से उबाने वाले प्रतीत होने वाले अनेकानेक वाक्य, किन्तु बातचीत की यह भरमार वस्तु सांप्रतिक मानव-मन की गहन गुत्थियों को सुलझाने वाली विभिन्न शैलियों की भाषा बन जाती है। मानव-समुदाय की अपनी समस्याओं से साक्षात्कार इसी से होता है। लम्बी कहानी में एक पीली-पत्ती जो हवा में यहाँ वहाँ उड़ रही है, को लेकर के भी परिच्छेद के परिच्छेद लिखे जा सकते हैं और वे बेमानी भी नहीं ठहराये जा सकते,

क्योंकि ऐसी छोटी छोटी चीज कहानी को खराब कर देती हैं और जिन्दगी जैसा ज्ञान का सही अहसास लगाती है। सामरसेट माम और फास्टर की कहानी में भी तो यही होता है। हम बाजार सब्जी खरीदने जाते हैं तो सड़क पर मदारी का तमाशा भी देख लेते हैं। इस तमाशा देखने का हमारे मूल उद्देश्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु बाजार जाने का जो यथार्थ है, उसमें यह भी जुड़ा हुआ है।[3] इस तरह के वर्णन या विवरण अगर आज की लम्बी कहानी में आते हैं तो उन्हें निरर्थक तो कहा ही नहीं जा सकता। निरर्थकता और व्यर्थता-बोध की अभिव्यक्ति स्वयं में व्यर्थ थोड़े ही होती है। 'बंद गली का आखिरी मकान' में दोनों भागों का अद्भुत एवं विशिष्ट सम्मिश्रण है, यही विलक्षणता उसे रोचकता भी प्रदान करती है और लम्बी कहानी की इस लम्बी यात्रा में महत्त्वपूर्ण पड़ाव का श्रेय भी देती है। भारती अपनी सभी लम्बी कहानियों में कथ्य और वैचारिकता की विभिन्न भंगिमाएँ प्रस्तुत करते हैं।

'मांस का दरिया', 'नीली झील' के बारे में पहले भी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है। 'राजा निरबंसिया' की वस्तु पुरानी है, केवल कहानीकार की शैली किसी सीमा तक बाँधती है।

शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'बरगद का पेड़' भी द्विकथात्मक कहानी है, एक पुराना कथानक है, दूसरा नया। पुराने कथानक की पद्धति पुरानी है, पर दोनों का संश्लेष एकाकार है ठीक 'राजा निरबंसिया' की भाँति, फिर भी इस तरह की द्विकथात्मक कहानियों के लिए इस शिल्प की आवश्यकता होती है जो संवेदना से भावित होकर पुरानी और नयी वस्तुओं को एक झटके में सीधा खड़ा कर सके। शिल्प की यह सजगता 'बरगद का पेड़' में अधिक बारीकी से उभरी है और कमलेश्वर उस सजगता तक नहीं पहुँच सके हैं।

'बन्द गली का आखिरी मकान' और 'आश्रम' (धर्मवीर भारती) जैसी समर्थ कहानियाँ पढ़ने के बाद बहुत दिनों तक कोई भी कहानी अच्छी नहीं लगेगी। 'मांस का दरिया' और 'नीली झील' की लम्बाई जहाँ उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं बन पायी है, वहीं 'बन्द गली का आखिरी मकान' की लम्बाई महत्त्वपूर्ण, अनिवार्य और अपरिहार्य बन गयी है। कथ्य और संप्रेष्य के अलग-अलग होने पर ही भारती का गठनात्मक कौशल ऐतिहासिक सन्दर्भ की वस्तु बन जाता है। इस कहानी में केवल भावना-प्रधान प्रेषित रोचकता का आग्रह ही मुख्य रूप से प्रभावित करता है, अपितु बातचीत की अतिशयता ध्वस्त साम्प्रतिक मानव-मन की गहन स्थितियों को सुलझाने वाली विभिन्न शैलियों की भाषा बन जाती है, मानव-समुदाय का अपनी समस्याओं से सम्पूर्ण साक्षात्कार होता है। कमलेश्वर की लम्बी कहानियों में जहाँ संवेदन की अतिरेकता, ऐन्द्रिक सम्बन्धों की अधिकता कई बार अरुचिकर, अप्रीतिकर और आरोपित प्रतीत होने लगती है, वहाँ भारती में कथ्य और वैचारिकता का अद्भुत विशिष्ट सम्मिश्रण है। भारती की यही विलक्षणता इसे रोचकता भी प्रदान करती है और लम्बी कहानी की इस लम्बी यात्रा में प्रमुख पड़ाव का महत्त्व भी देती है।

लम्बी कहानी का महत्त्व स्वीकार इसलिए किया जाता है कि वह जिन्दगी के नजदीक नहीं, स्वयं जिन्दगी होती है। लम्बी कहानी पर आरोप लगाया जाता है कि वह सार्थकता के बिन्दु से प्रारम्भ होती है और बाद में अर्थहीन लगने वाले सन्दर्भों में भटक जाती है। यह बात केवल लम्बी कहानी के लिए सच नहीं, बल्कि जिन्दगी की समस्याओं से लड़ने के बारे में सच है। कहानी के शुरू में होने वाली लड़ाई जितनी झूठ और सच होती है, उतनी ही हमारी जिन्दगी झूठ और सच होती है। लम्बी कहानी खोई हुई कहानी की खोज का एक आयाम है, कथ्यहीनता और छद्म से अलग जिन्दगी के बीच से ही कहानी की तलाश लम्बी कहानी का आयाम कही जा सकती है। भारती इस खोज में सफल और कमलेश्वर महत्त्वाकांक्षी प्रमाणित होते हैं।

धर्मवीर भारती और कमलेश्वर की कहानियों के प्रसंग में अब मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की सार्थकता / व्यावसायिकता का सवाल उठाया जा सकता है। केवल वातावरण से जुड़ा हुआ यथार्थ ही यथार्थ हो सकता है। भोगा हुआ यथार्थ कहानी का अपने आप में कोई गुण नहीं है, क्योंकि यह पूरा का पूरा तथाकथित मांगा हुआ यथार्थ 'आत्म-वंचना' का एक उदाहरण मात्र हो सकता है। कमलेश्वर इस आत्म-वंचना से मुक्त नहीं हो पाते, भारती की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक संतुलित है। भारती की कहानियों में मैं, वह, मैं और हम भी बोलते हैं। कमलेश्वर की भाँति यह कोई शिल्प की सजगता का प्रतिफल नहीं है कि कहानीकार दूसरे के मुँह अपनी बात डाले। यह तो शेष परिवेश के साथ अपने को जोड़कर, अपने को अलग कर देखने का एक आधुनिक और सशक्त मुहावरा है। यह मुहावरा रचना को कुछ ऐसी सार्थक उत्तेजना देता है जो (उत्तेजना) उन ढेर सारी बातों से बचा लेती है जो रचना के व्यक्तिवादी और आत्म-केन्द्रित हो जाने के खतरे पैदा करती।

भारती पर आरोप लगाया जा सकता है कि वह एक बड़ी सीमा तक स्थिर कहानीकार रहे हैं। उनके कहानीकार ने धीरे-धीरे अपना विकास चाहे अवश्य किया हो, लेकिन उन्होंने तेज दौड़ या छलाँग नहीं लगायी। उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कहानी-सृजन में विभाजक रेखा असम्भव न सही, कठिन अवश्य है। कमलेश्वर जहाँ अपने पूर्ववर्ती सृजन में हमें प्रभावित करते हैं, वहाँ अपने परवर्ती रचनात्मक दौर में बुरी तरह हार गये हैं और बराबर हारते गये है। सआदत हसन मंटो या धर्मवीर भारती जैसे कहानीकार का सामर्थ्य वह अपने भीतर विकसित नहीं कर सके हैं और पहले नई कहानी तथा अब समान्तर कहानी के प्रवर्तक भले ही समझे जायें, लेकिन उनकी अधिकांश कहानियाँ पुरानी भावुकता की शिकार हैं जिनमें व्यवस्था की जड़ता के प्रति जहाँ भी झल्लाहट आयी है, आरोपित झल्लाहट है। ('रातें' उस रात वह मुझे बीच कैंडी'''') बाद की इन कहानियों में न केवल कहानीकार अपने आपको दोहराने लगा है, अपितु अपनी पुरानी कहानियों के गढ़े हुए मील पत्थरों से भी वह पीछे लौटता गया है। कठिनाई यह है कि कमलेश्वर के पास भाषा नहीं है, एक कहानीकार की भाषा: एक कवि या उनके अवचेतन में बैठा कवि ही उनसे कहानियाँ लिखाता है और इसीलिए प्रायः कमजोर प्रतीत होता है—'अधूरी आवाजें' जैसा समर्थ नाटक लिखने वाला कमलेश्वर अपनी साहित्य की केन्द्रीय विधा निश्चित नहीं कर सका है और उनकी परवर्ती कहानियों में जो भी जीवन-मूल्यों का विघटन है, वह चर्चा का विषय अवश्य है, लेकिन न तो उनकी ये कहानियाँ इतिहास का विषय हैं और न उनका जीवन-दर्शन कुछ बन सका है। 'नयी कहानी' का कहानीकार जब समान्तर कहानी के आन्दोलन में सुरक्षित शिविर खोजने लगा है, तो उसकी सीमाएँ भी अधिक उजागर हुई हैं। निश्चित रूप से रचनागत स्तर पर उनका यह अवमूल्यन गम्भीर चिन्ता का विषय है। भारती के कहानीकार का मन्द गति से विकास चाहे सरल रेखाओं में ही रहा हो, उनका जीवन-दर्शन हमें प्रभावित करता है। अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की ईमानदारी उन्हें निरन्तर उल्लेखनीय और विशिष्ट बनाये रखती है।

संदर्भ-संकेत

१. सप्तसिंधु, नया काव्य विशेषांक, २ सितम्बर, १९७३—संपा० त्रिलोकीरंजन, पृ० ११०।
२. मधुमती (अप्रैल-मई, १९७२), लम्बी कहानी की रचना—कृष्ण कमलेश, पृ० १०५-०६
३. वही, पृ० १०७।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
शासकीय महाविद्यालय
नरसिंहगढ़ (राजगढ़) म० प्र०

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी लघुकथाओं में व्यंग्य

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

व्यंग्यकार केशवचन्द्र वर्मा ने लिखा है कि इधर कहानी का बाजार इतना गर्म हो गया है कि कविता लिखना आत्महत्या का दूसरा नाम जैसा समझा जाने लगा है। फिर भी विकलता नामक वस्तु जब थामे नहीं थमती, तब कविता होमियोपैथि की चिकित्सा के अनुसार दबे हुए रोग के रूप में कहीं-न-कहीं फूट पड़ती है।

स्वातन्त्र्यपूर्व हिन्दी कहानी न तो लघु ही थी और न व्यंग्यमयी। उसके साथ हास्य का उपसर्ग जोड़ना अधिक समीचीन है। पुराने हास्यबोध के कहानीकारों में जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द, कांतानाथ पाण्डेय 'चोंच', जहूरबख्श, हरिशंकर शर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', शारदाप्रसाद वर्मा, भुशुण्डि, सरयू पण्डा गौड़, शिवपूजन सहाय, बेढब बनारसी, राजेन्द्रलाल हांडा, मोहनलाल गुप्त, कौतुक बनारसी, विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त, व्यंकट पुरोहित, रोशनलाल सुरीरवाला, चिरंजीलाल पाराशर, डॉ० सत्यप्रकाश सेंगर, धर्मदेव चक्रवर्ती, रामचन्द्र चेट्टी, मिश्रीलाल जैन आदि के नाम विस्मृत नहीं किये जा सकते।

छिछली हास्य-भंगिमा, सतही रूप, विघटित आभा, मसखरापन, शब्द-कौतुक, भौंड़ापन, हलका और सस्ता स्तर, मजमा लगाने वाली विदूषकता, चुटकुलेबाजी आदि से मुक्ति दिलाकर हिन्दी कहानियों को जिस पीढ़ी ने व्यंग्य की सजीवता, पैनापन, प्रभाव तथा रचनात्मक एवं प्रासंगिक माध्यम से जोड़ा—वह हरिशंकर परसाई से शुरू होकर सनत् मिश्र 'अनूप' तथा बृजेश परसाई तक परिव्याप्त है। इस खेमे में कुछ बुजुर्ग और अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं जिनके हाथों आज लघुकथा 'सतसैया के दोहरे' बन चुकी है। इनमें अमृतलाल नागर, डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी, के० पी० सक्सेना, राधाकृष्ण, रामनारायण भाई उपाध्याय, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, डॉ० नरेन्द्र कोहली, केशवचन्द्र वर्मा, श्रीलाल शुक्ल, श्रीकांत चौधरी, कन्हैयालाल नंदन, लक्ष्मीकांत वैष्णव, डॉ० शंकर पुणताम्बेकर, रमेश बत्तरा, बलराम, डॉ० कृष्ण कमलेश, डॉ० सतीश दुबे, कृष्ण चराटे, अजातशत्रु, अंजनि चौहान, हरि जोशी आदि परिगणित हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्यकार तथा लघुकथाकार ने जो सबसे अहम् कार्य किया—वह है व्यंग्य की रचना—मानसिकता की एक स्वतंत्र-स्वायत्त पहचान और इसके लिए उसने हास्य से अपने को विलग कर लिया। संवेदना का स्थान बौद्धिकता ने ग्रहण कर लिया। बड़बोलापन की स्थिति रचनात्मक कल्पना में परिणत हो गयी। निर्वैयक्तिक, बौद्धिक और वयस्क समझदारी ने वर्तमान व्यंग्य-कथाओं का ताना-बाना जोड़ा आज की लघुकथा अधिक सुनियोजित केन्द्रित तथा लक्ष्योन्मुख हो गयी

भारतेन्दु-युग का मनमौजीपन आज के लघुकथा साहित्य में नहीं मिलता। अब वह अनुशासित होकर तेज और प्रखर हो चुका है। वह कलात्मक अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु तैयारी कर रहा है। आज का लघु कथाकार मूल्य-संक्रांति का ही शिल्पी नहीं है, अपितु वह नये मूल्यों की व्याकुलता से भी ग्रसित है। वह दुनिया को बेहतर देखना-परखना चाहता है। वह व्यंग्य की स्वतन्त्र विधा हेतु व्यंग्य के अस्त्र-शस्त्रों की पहचान मे निरत है। वह जनाने हास्य को बरखास्त कर, पक्षधरता तथा सामाजिक निर्माण-चेतना के प्रति जागरूक है। उसका भूगोल व्यापक और विस्तृत हो चुका है। वह साहित्य की जिन्दादिली को व्यंग्य की कारगर विधा मे उड़ेल रहा है। उसमें प्रहार तथा निषेध ही नहीं हैं, अपितु विश्वास, सुधार, क्रांति तथा करुणा हैं। आज के व्यंग्य लघुकथाकार ने स्वस्थ-बौद्धिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण को विकसित एवं संवर्द्धित किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक परिवेश ने एक ओर हमें आत्मविश्लेषण का अवसर प्रदान किया तो दूसरी ओर व्यंग्य-सृजन की प्रचुर-प्रबुद्ध सामग्री। व्यंग्यकार की कैंची बेदर्दी के साथ चल पड़ी। स्वातन्त्र्यपूर्व रचनाकार की हास्य-निबंध तथा हास्य-कहानी की विभेदक रेखा रीतिकालीन विरहिणी नायिका की भाँति थी, परन्तु उसे पृथक् और निरपेक्ष रूप की परिणति आज के कथाकार का मुख्य प्रदेय है। परस्परित हास्य-मसालों से दूर हटकर राष्ट्रीय जीवन के बहु-आयामी स्वरूपो, स्तरों तथा प्रतिमानों से वह प्रतिबद्ध हुआ और पैरोडियों की दुनियां से निकल कर वह फैण्टेसी के धरातल पर संस्थित हुआ। जीवन के हर मोड़ पर मिलने वाले विनोदी प्रसंगो को पूँथा गया।

आज के कथा-व्यंग्य को समझने के लिए सृजनशील कहानीकारों के अनेक समीक्षा-सूत्र कारगर सिद्ध हो रहे हैं जिनमें विभिन्न साहित्यकारों की 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य-रचनाएँ', हरिशंकर परसाई की 'सदाचार का तावीज' की भूमिका, कन्हैयालाल नंदन की 'श्रेष्ठ हास्य-कथाएँ', केशवचन्द्र वर्मा की 'आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य' आदि मूल स्रोत का कार्य करते हैं।

आज के कथा-व्यंग्य ने दूर-दूर तक अपनी उड़ानें भरी हैं। उसने कथा-मूल्य तथा मानव-मूल्य के फासले को पाटा है। अनेक अभावों के बावजूद भी, उसकी अनुभूतिजन्य एवं शिल्पगत उपलब्धियों को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता। इन व्यंग्य-रचनाओं का चरमोत्कर्ष मानवीय स्वातन्त्र्य एवं मुक्ति मे परिलक्षित है।' उसकी यात्रा वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर उन्मुख हुई है। आज का कथाकार मानव-मूल्यो की स्थापना हेतु जूझ रहा है। उसमें हास्य का 'डिवोशन' न होकर व्यंग्य का संघर्ष है। वह 'तलवार की धार पर धावनो है' की स्थिति में है। उसके सीमा-क्षेत्र में राजनैतिक अव्यवस्था, अर्थ की दुरवस्था, नौकरशाही, सामाजिकता का अवमूल्यन, बुद्धि-जीवियो की सफेदपोशी, साहित्य की सौदेबाजी, शिक्षा की दुकानदारी, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की वाहक नीति-नीतियाँ, व्यक्तिपूजा, वैयक्तिक जीवन की टूट और मध्य वर्ग के खोखलेपन आदि की कार-गुजारियाँ है। आज के युवा लघुकथाकारों ने जनसमाज को झकझोरा है और उसमें जागरूकता पैदा की है। उन्होने तटस्थ वृत्ति, संवेदनशीलता तथा बौद्धिकता का आश्रय लेकर प्रहार किया है और मूल्यों के विघटन की वेदना को कथाशिल्प का केन्द्र बनाया है। उनमें साहसिकता की मनोवृत्ति बढ़ी है। इसलिए विष्णु प्रभाकर ने 'मैं व्यंग्य क्यों नहीं लिखता' शीर्षक टिप्पणी में लिखा था : "भाई जान, मैं अपनी घर वाली को भी अप्रसन्न नहीं करना चाहता, इसलिए उनको या उनके परिवार को लेकर कुछ लिखने का साहस नहीं होता है। यही बात शासकों और मठाधीशों को लेकर कही जा सकती है। हलवे-मांडे का प्रश्न है। आज के बेकारी के युग में सोचना पड़ता है और जहाँ एक बार सोचा, व्यंग्य विनोद ऐसे गायब हो जाते हैं जैसे गधे के सिर से सींग

बुजुर्ग कथाकारों में अमृतलाल नागर अपने निश्छल हास्य तथा सुधारवादी मानववाद के कारण अलग दिखायी पड़ते है। वे लोकरंग, अपने विलक्षण अंदाज और लखनऊ की जिंदादिली के कारण अविस्मरणीय हैं। जिस प्रकार रामकथा वाल्मीकि से लेकर नरेश मेहता तथा भारतभूषण अग्रवाल तक कविता में प्रवहमान हुई, उसी प्रकार व्यंग्य-कथाओं में राधाकृष्ण से लेकर सनत् मिश्र 'अनूप' और वृजेश परसाई तक। राधाकृष्ण ने 'क्षेपक' में रामकथा का आधुनिकीकरण कर डाला। गांधीवादी राम रावण को एक कड़ा विरोधपत्र भेजते हैं—मैं आपके सुधार के लिए जो प्रयत्न और प्रयास कर रहा हूँ, उसे आप प्रश्रय नहीं देते और मित्रभाव से आचरण भी नहीं करते। मुझे इसका पश्चात्ताप है, अतएव मै आगामी सप्ताह से इक्कीस दिनों का उपवास कर रहा हूँ।

यही नहीं, राम रावण को गाढ़े का आधी बाँह वाला कुरता और गाढ़े की लुंगी पहनने की सलाह भी देते हैं। राधाकृष्ण मेघदूत को भी नया परिवेश देते हैं—"मेरे डियरेस्ट डियर, इस महँगाई से हुए युग में जब व्यय विस्मृत हो गया है, तब इस खर्च घटाओ अभियान में पोस्ट कार्ड और अन्तर्देशीय का खर्चा बचाकर मेघ के द्वारा तुमने जो अपना विरह-संदेश भेजा है और अल्प बचत की है, उससे अभिभूत होकर, मैं कृतज्ञतापूर्वक इन्द्रधनुष के समान झुक गई हूँ और तुम्हें मैं धन्यवाद भेज रही हूँ।"

राधाकृष्ण को पुरातन के नूतन संस्करण प्रस्तुत करने में काफी सफलता मिली। गौतम बुद्ध का आधुनिक संस्करण द्रष्टव्य है—"ऐसा सोचकर उन्होंने अपने काले घुँघराले केशों वाले फेचकट मस्तक का मुण्डन करवा दिया, टेरीकाट की पतलून और टेरिलीन की बुशशर्ट उतारकर खादी का काषाय वस्त्र धारण कर लिया और गांधी टोपी लगाकर पिता के रोते हुए और पत्नी को सोते हुए छोड़कर 'किं कुशलय' की गवेषणा करते हुए वहाँ जा पहुँचे जहाँ कांग्रेस कमेटी का कार्यालय था और आलान-कामान बैठा हुआ श्रद्धालुओं से नमस्कार, नामपत्र और चंदा ग्रहण कर रहा था और अपने प्रियजनों में विधानसभा तथा लोकसभा का टिकट वितरण कर रहा था।"

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी लघुकथा मे व्यंग्य की सही पहचान कराने वाले सर्वाधिक उल्लेखनीय हरिशंकर परसाई हैं। वे अवसर को पकड़ने के बड़े भारी पण्डित है। उनकी कहानियों में, जैसे—उनके दिन फिरे, बैताल की छब्बीसवीं कथा, बैताल की सत्ताइसवीं कथा, सदाचार का तावीज, सुदामा का चावल, लंका-विजय के बाद, मेनका का तपोभंग, त्रिशंकु बेचारा, हनुमान की रेल-यात्रा, रामकथा क्षेपक, आमरण अनशन, भोलाराम का जीव आदि को बड़ी लोकप्रियता मिली। उन्होंने सचमुच लघुकथा के शिल्प को गढ़ा है। उन्होंने 'रामकथा क्षेपक' में 'स्मगलिंग' जैसी भ्रष्टतम स्थिति पर तीखी चोट की है—"हनुमान ने संजीवनी निकाल कर रख दी। कहा—मुझे आपके बड़े भाई रामचन्द्र ने इस दवा को लेने के लिये भेजा था। शत्रुघ्न ने भरत की तरफ देखा। बोले—बड़े भैया यह क्या करने लगे है? स्मगलिंग में लगे गये है। पैसे की तंगी थी, तो हमसे मँगा लेते? 'स्मगल' के धन्धे में क्यों फँसते हैं?······भरत और शत्रुघ्न ने एक-दूसरे की तरफ देखा। तब तक रजिस्टर में स्मगलिंग का मामला दर्ज हो चुका था। शत्रुघ्न ने कहा—भरत भैया, आप ज्ञानी हैं। इस मामले में नीति क्या कहती है? शासन का क्या कर्तव्य है? भरत ने कहा—स्मगलिंग यों अनैतिक है, पर स्मगलिंग किये गये सामान से अपना या आपने भाई-भतीजे का फायदा होता हो, तो यह काम नैतिक हो जाता है। जाओ हनुमान, ले जाओ दवा। मुन्शी से कहा—रजिस्टर का यह पन्ना फाड़ दो।"

रवीन्द्रनाथ त्यागी में परसाई वाली तो नहीं है परन्तु हास्य की गुदगुदी और चमुकता तथा लालित्य का स्पदन है उनका व्यग्य शरद आशो की भाँति शिल्प-कौशल से उदात्त

नहीं है। उन्होंने व्यंग्य के रचना-विधान की अभिव्यक्ति के नूतन द्वारों को उन्मुक्त किया है। श्री श्रीलाल शुक्ल के विषय में रघुवीर सहाय ने ठीक ही लिखा है कि वे अपने समकालीन परसाई से काफी भिन्न हैं जो कि टूटने योग्य है, उसे तोड़ ही डालने के कायल हैं और शरद जोशी या रवीन्द्रनाथ त्यागी से तो बहुत ही भिन्न हैं जिन्होंने चुनी हुई चीजों पर हँसने-हँसाने की दक्षता अर्जित की है। श्रीलाल प्रेमचन्द और अज्ञेय के अधिक नजदीक पड़ते हैं जो टूटे मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं और बंकिम के तो वह बहुत ही निकट हैं क्योंकि वह भी बराबर उसकी याद दिलाते हैं जो टूट चुका है, पर टूटकर नष्ट होने योग्य नहीं था।

रामनारायण भाई उपाध्याय की व्यंग्य-कथाएँ एक ओर खलील जिब्रान की याद दिलाती हैं तो दूसरी ओर वे मीठी मार से परिपूर्ण हैं। सामयिक विषमता पर चोट करने में उपाध्यायजी को विशेष सफलता मिली है। अमृतराय, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, फिक्र तौसवी, चिरंजीत, श्रीसत्य, मनोहर वर्मा, श्रीबाल पाण्डेय, लतीफ घोंघी, डॉ० र० श० केलकर, डॉ० शिवनन्दन प्रसाद उर्फ अलबर्ट अली कृष्ण आदि ने व्यंग्य विधा की स्थापना में अपने उल्लेखनीय कृतित्व को जोड़ा है।

वर्तमान व्यंग्य-कथाशिल्प को समृद्ध बनाने में अभिव्यक्ति के माध्यमों की परिवर्तनशीलता ने एक सर्वथा नएपन की आधारशिला रखी। व्यंग्यकारों ने भाषा का सर्वथा विस्फोटक प्रयोग किया है। व्यंग्य-कथाकारों ने नगण्य शब्दों का प्रयोग करके भाषा को अत्यन्त साधारण कर दिया। महिमा-मण्डित शब्दों को ताक पर रख दिया गया और चलताऊ तथा मामूली शब्दों का उपयोग करके, महीयसी शब्दावलियों का अर्थापकर्ष कर दिया। आज के व्यंग्य-कथाकार की कृतियों मे शब्द सायास नहीं, अनायास ही उतर आते है। वह रचना एवं परिस्थिति के अनुसार शब्दों का चयन करता है। वह भाषा-प्रयोग मे किसी पद्धति को राजमुकुट नहीं पहनाता। उर्दू-फ़ारसी, संस्कृत के तत्सम-उद्भव, ग्राम्य एवं कहीं-कहीं अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग भाषा तथा अभिव्यंजना की आवश्यकतानुसार हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य-कथा-साहित्य में शिल्प की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्नता एवं परिष्कार है। इस शिल्प में, अभी भी अनन्त सम्भावनाएँ हैं। फिर भी आज की स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यंग्य-कथा-लेखक जितना जीवनाग्रही है, उतना शिल्पाग्रही नही। जीवन से जुड़ना तो व्यंग्य-कथाकार की पहली शर्त है, परन्तु उसने जो अपने को तनाव की मँडराती छाया से त्रस्त-ग्रस्त कर रखा है—क्या उससे उसकी मुक्ति सम्भव है ? यदि वह तनाव की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ सयत विनोद एवं मार्मिकता के साथ सहज खुलापन भी स्वीकार कर ले तो व्यंग्य-कथा का अभाव प्रभाव मे परिवर्तित हो सकता है। व्यंग्य तथा व्यंग्यास्पद में भी अन्तर है। लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की वृत्ति नहीं, प्रत्युत मानवीय करुणा का उदात्तीकरण ही उसका चरम है। व्यंग्य तो सत्य का पवित्र अस्त्र है।

रीडर हिन्दी-विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म० प्र०) ४७०-००१

हिन्दी उपन्यास : आर्थिक-सामाजिक संदर्भ

डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव

स्वाधीनता की उपलब्धि के बाद देश के परिवेश में तेजी से बदलाव आया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मूल्यवृद्धि एक विश्वव्यापी वस्तु हो गई। इस मूल्यवृद्धि से जूझने के लिए अधिकाधिक धनोपार्जन करने की प्रवृत्ति उभरी। देश की आमोखास जनता ने अपने परम्परागत पैतृक व्यवसाय त्याग कर मूल्यों को नजर अंदाज कर, लक्ष्मी की भक्ति में अपना दीनोईमान सब कुछ समर्पित कर दिया। भारतीय वर्ण-जाति व्यवस्था वैश्यत्व में सिमट गई। समूचा राष्ट्र बनिया बन गया। भगवान् को घर की आलमारियों और मन्दिरों मे कैद कर सभी उनकी पत्नी को पटाने में व्यस्त हैं। हिन्दी के रचनाकारों ने भारतीय समाज की इस प्रवृत्ति को जीने का उपक्रम किया। इस आलेख में हिन्दी के उपन्यास-लेखकों द्वारा प्रतिपादित आर्थिक-सामाजिकता को समझने का उपक्रम किया जा रहा है।

उपन्यासों की बात उठाने से पूर्व एक बात कहना चाहूँगा कि आज विश्व के अर्थशास्त्रियों ने संसार को आर्थिक आधार पर पहली, दूसरी, तीसरी आदि दुनियाँ में बाँट दिया है। इसमें पहली दुनियाँ पूँजीवादी राष्ट्रों की है, दूसरी साम्यवादी राष्ट्रों की और तीसरी है नवस्वतंत्र पिछड़े देशों की। नितांत अविकसित तथा विकसनशील की चौथी-पाँचवीं कोटियाँ भी बनाई गई हैं। हम चाहें तो इसी आधार पर राष्ट्र का भी विभाजन कर करते हैं, जैसे सम्पन्न भारत, अभावहीन भारत, अभावों में पिसता भारत, विपन्न भारत, भौतिक चेतनाशून्य भारत आदि। आशय यह कि एक भारत मे पंचभूतों जैसे पाँच भारत हैं। इनमें परस्पर कोई ताल-मेल नहीं; ये केवल सह-अस्तित्व के खोल के कच्चे धागे से एकसाथ पिरोये हुए हैं।

सम्पन्न भारत के घटक हैं देश के पूँजीशाह उद्योगपति, काले धन के व्यापारी तस्कर, कुछेक सिने-स्टार, देश की आजादी को निरन्तर भुनाने में क्षम राजनेता प्रभृति। इनके ऐश्वर्य की थाह पाने का प्रयत्न 'अंध' महासागर की गहराई को मापने जैसा है। साढ़े तीन-चार हाथ भूमि की अपेक्षा रखने वाले इन धन-कुबेरों की आर्थिक हवस ऐसी है कि इनका वश चले तो उलूक-वाहिनी को ही बिना डकार लिए उदरस्थ कर लें। 'सुवरन' की चकाचौंध से ग्रसित ये दानव-मानव राष्ट्र की पूँजी को निजी वस्तु मानते हैं।

राजकमल चौधरी ने 'मछली मरी हुई' उपन्यास में अरबपति निर्मल पदमावत की परिकल्पना कुछ इसी प्रकार के व्यक्तित्व को उजागर करने की दृष्टि से की है। वह एक उद्योगपति है। वह विशाल, भव्य एवं सुसज्जित भवन में निवास करता है। उसके निवास के लिए कलकत्ता में प्रिंसेस स्ट्रीट पर निर्मित तीस मंजिल की 'कल्याणी मैंसन' कलकत्ता की सबसे बड़ी एवं ऊँची बिल्डिगों में से एक है (पृष्ठ १९) वह अल्ट्रामॉडर्न दैनन्दिन प्रयोग म आने वाले यथा
डेकोर्र प्रेम टी० वी० सेट रेडियोग्राम स्टील के बड़े-बड़े आल्मीरे, फ्रिज,

टेलीफोन, वजन तौलने की मशीन आदि से सुसज्जित है (पृष्ठ ३४)। इस उपन्यास की नायिका 'शीरीं' है जो काम के नाम पर अपने शरीर की रक्षा करती है। 'कई सामाजिक संस्थाओं की अध्यक्षा हैं। कई कम्पनियों की डाइरेक्टर हैं। सभा-सोसाइटियों में जाती हैं, उद्घाटन करती हैं, प्राइज बाँटती हैं।' (पृ० ८६)। संपत्ति को दूसरे की नजर न लगे, इसलिए कभी-कभार काले-धन का अभिषेक करना इनके छद्मपूर्ण औदार्य की नीति है। निर्मल पदमावत ने निजी कोष से पचीस लाख रुपयों का अनुदान देकर शीतल दास हास्पिटल में न्यू सर्जिल डिपार्टमेंट खुलवा दिया था। (पृ०१६)

वैभव एवं विलास का चोली-दामन का साथ है। विलासिता ऐश्वर्य का अलंकरण है। बनारस के खत्री रईस का शौक देखिये। 'नाचगाने का विशेष शौकीन है। उसके राजमहल में कलकत्ता की मशहूर गायिका मुन्नी जान और बनारस की रामकली के मुजरे का आयोजन किया गया है।' इलाचन्द्र जोशी 'जहाज का पंछी' में लिखते हैं, 'हाल की तरह बहुत बड़े कमरे को सजाया गया है। एक से एक खूबसूरत कालीन बिछे थे। एक से एक बढ़िया मसनद लगे थे और बीच में वह दूधिया चाँदनी बिछी थी कि लगता था जैसे वाकई चाँदनी आसमान से उतर आई हो। झाड़ों एवं फानूसों की चमक से भरा कमरा जगमगा रहा था। इस शहर के सभी नामी-गिरामी रईस और औलिया लोग सज-धज कर बैठे हुए थे। पान की गिलौरियाँ बँट रही थीं। इत्र सुंघाया जा रहा था। गुलाबपाशों से बढ़िया विलायती लैवेंडर छिड़का जा रहा था।' (पृ० १२८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५ ई०)।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में इस वर्ग का प्रतिनिधित्व अनेक कारणों से अत्यन्त सीमित रूप में हुआ है। प्रतिशत की दृष्टि से समूचे देश में यह वर्ग अल्पसंख्यक है। सच तो यह है कि उपन्यास-लेखकों को इस वर्ग से कोई सहानुभूति नहीं। उपन्यास-लेखक का वश चले तो वह इस वर्ग को डाइनामाइट से ध्वस्त कर दे। इस स्थिति का मनोवैज्ञानिक कारण लेखकीय ईर्ष्या और आक्रोश है। सामान्य रचनाकार अपनी समूची बौद्धिकता के बावजूद दो वक्त की रोटियाँ नहीं जुटा पाता, जबकि इस वर्ग के लिए देश सोने की चिड़िया है और उसके यहाँ घी-दूध की नदियाँ बहती होती हैं। इन धर्मराजों के घरों के कुत्ते भी स्वर्गीय जीवन के अधिकारी हैं। सुना जाता है कि देश मे एक ऐसा परिवार है जिसके लिए जो तौलिये बनते हैं, वे राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री तक को उपलब्ध नहीं। इनके विषय में 'लिखा कम समझना ज्यादा' वाली अर्थ-प्रक्रिया से भाव ग्रहण करना वांछनीय है।

अब अभावहीन भारत के औपन्यासिक सन्दर्भ को लीजिए। यह वर्ग चोरबाजारी, मिलावट, रिश्वतखोरी, कर-प्रवंचन, जमाखोरी जैसे दो नम्बर के व्यवसाय से प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः संसक्त है। इस वर्ग के अर्थोपार्जन के तिकड़मों के आयाम सहज मानसिकता के लिए अकल्पनीय हैं। इसकी बौद्धिकता का पारस मिट्टी को सोना बनाने की क्षमता से सम्पन्न है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'सफेद चेहरे' में इस वर्ग की छवि उरेही गई है। उपन्यास में उल्लिखित डाक्टर संपत्ति बटोरने के लिए 'ओषधियों में मिलावट करता है। थोड़े से पैसों के लिए उसने न जाने कितनी जानें ले लीं।' (पृ० १२७)। डाक्टर की अर्थ-लोलुपता एव स्वार्थान्धता को उजागर करने के लिए उपन्यास लेखक का कथन है—'डाक्टर—वह तो उन सभ्य हत्यारों मे से है जो केवल अपने स्वार्थ के लिए सब कुछ कर सकता है। आदमी का मांस तक बेच सकता है। उसकी हड्डी में केवल कामुकता और लोलुपता भरी है।' (पृ० १२७)।

सर्वदानन्द विरचित 'माटी खाइ जनावरा' में एक चरित्र है नरेश नरेश बम्बई म रहता है और उसका व्यवसाय है शरीर का व्यापार एक्स्ट्रा सप्लाई करना उसका ध धा है। वह अपनी

गावज के समक्ष इसकी स्वीकृत करते हुए कहता है, 'हाँ, भाभी, हाँ, लड़कियों की सप्लाई करता हूँ। अच्छा खासा रोजगार है। एक दफ्तर खोल लिया है।······मूनलाइट एक्स्ट्रा सप्लायर'। (पृ० ६८)। नरेश की पत्नी भी बम्बई में ही वर्ली चलाकर स्वतन्त्र व्यवसाय करती है। नरेश कृष्णा के व्यापार के विषय में पूरी जानकारी रखता है—'इजी मनी—आसानी से उसे रुपया पैदा करने की लत लग गई थी।' (वही पृ० १२८)। 'इजी मनी' बनाने की प्रक्रिया में एक बार वह पुलिस की गिरफ्त में आ गई। कृष्णा धकला चलाना स्थगित कर नरेश के पास आ जाती है। दम्पति को पैसा चाहिये। कृष्णा को वह पुनः उकसाता है। अपने मित्र की पत्नी वंदना के सौंदर्य को भुनाने की प्रेरणा देता है। शिकार सामने देखकर कृष्णा शिवनाथ और वंदना में झगड़ा करा देती है। वन्दना घर-बार छोड़कर कृष्णा की शरणागत होती है। और कृष्णा······उस बिना हस्ताक्षर की हुण्डी भुनाने में लग जाती है।

आर्थिक स्तर पर अभावरहित होने पर भी इस वर्ग की परिवार-व्यवस्था लड़खड़ाती चलती है। मोहन राकेश के उपन्यास 'अँधेरे बन्द कमरे' की नायिका है नीलिमा। नीलिमा नृत्यकला में पारंगत है। वह समाज में प्रतिष्ठा चाहती है। यशार्जन करने के लिए लालायित है। वह अपने पति हरबंस को अपनी लक्ष्यसिद्धि में बाधक समझती है। अतएव, वह उससे कटकर स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। परिणामस्वरूप पति-पत्नी के सम्बन्ध रीतने लगते हैं। किन्तु थोड़े भट-काव के उपरान्त नीलिमा सहज हो जाती है, कारण उसे वांछनीय ख्याति नहीं मिलती और यश-लिप्सा का खोखलापन भी रास आ जाता है।

आजादी मिलने के बाद जो उपन्यास इस वर्ग का चित्रण करते हैं, उनमें निर्मल वर्मा का 'वे दिन', चतुरसेन शास्त्री का 'मुक्तिबोध', डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'लेडी डाक्टर' उदाहरण-स्वरूप अवलोकनीय है। इन उपन्यासों में वर्गगत वैभव-विलास, स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का सतहीपन, मानसिक विकृति, पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या-द्वेष, मर्यादाहीनता, टकराव, बिख-राव, अलगाव, भटकन, दिशाहीनता आदि लक्षणीय हैं। इन सब के मूल में वित्त है। वित्ताधिक्य तथा वित्ताभाव मनुष्य के लिए दोनों अभिशाप हैं। इसी को लक्ष्य कर कहा गया है—

साईं इतना दीजिये जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा न जाय॥

फणीश्वरनाथ रेणु के आंचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' में जमींदारों के शोषण के विरुद्ध आक्रोश की तीखी अभिव्यक्ति है। सोशलिस्ट पार्टी का नेता कालीचरण जमींदारों के विरोध में किसान-सभा का आयोजन करता है। कालीचरण संथालों को भड़काते हुए कहता है—'जमीन किसकी ? जोतने वालों की। जो जोतेगा, बोयेगा—वह काटेगा। कमाने वाला खायेगा।' (पृ० १०६)।

शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' उपन्यास में कालीचरण की कथनी करनी में बदलती है। आम आदमी की प्रसुप्त कुंभकरणी मानसिकता टूटती है। वह जमींदार के वर्चस्व, उसकी प्रभुता, उसके रोबदाब को अँगूठा दिखा देता है। लेखक के शब्दों में 'जमींदारी की पुश्तैनी पुख्ता दीवारें एक हल्के धक्के से ही जमीन पर आ रही। देखते ही देखते करैता का पूरा माहौल बदल गया। असामियों ने खानदानी लाज-शरम छोड़ कर जमींदार की छावनी से अपना रिश्ता तोड़ लिया। अब कभी दशहरे के मौके पर असामियों की भीड़ जुहार करने नहीं आती। न तो अब छावनी के मुख्य द्वार पर रखा परात नजराने के रुपयों से खनकता है न तो अब छावनी के

लड़कों को देखकर कोई सत्तर साल का बूढ़ा झुककर सलाम करता था, न औरतों तक को देखकर कोई अपने चबूतरे की चारपाई से उठ कर खानदानी लिहाज दिखाता था। यह सब कुछ ताश के पत्ते की तरह हल्के से धक्के मे बिखर गया।' (पृ० ३२)।

करेता को देश के समस्त गांवों के प्रतीक के रूप में ग्रहण करना लक्षणीय है। अपनी स्थिति को सहेजने-समेटने तथा यथावत् बनाये रखने के निमित्त जमीदारों ने पैंतरे बदलने प्रारम्भ किये। वे सावधान की मुद्रा में आ गये। उदयराज सिंह अपने उपन्यास 'अँधेरे के विरुद्ध' में बताते हैं, 'जमीदारी जाते ही यहाँ जो धाँधली मच गई कि अब कोई किसी की सुनता ही नही। सभी छोटे-मोटे जमीदार लीडर बन बैठे हैं।······दिन भर लीडरी और रात मे भट्टी में शराब की पियाई।' (पृ० १०)।

अभावों मे पिसते, विपन्न एवं भौतिक चेतनाशून्य वर्गों की स्थिति कमोबेश एक-जैसी है। वास्तविक भारतीय प्रतिनिधि यही लोग है। नौकरीपेशा लोग, किसान और मजदूर तथा रोज खाने-कमाने वाले व्यवसायी, बेरोजगार, भिखारी आदि देश के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करते हैं। केन्द्रीय तथा राजकीय राजनेता वायुयान या पेटाडोर में बैठकर, अपने को जनता का प्रतिनिधि घोषित कर, जब शोक के साथ सहानुभूति व्यक्त करने के लिए परोपदेशी भाषण देने भूले-भटके जाते हैं तो लगता है कि वे इन्हें मुँह चिढ़ा रहे है। आम जनता और अपने को जन-प्रतिनिधि कहने वाले तथाकथित दावेदारों के मध्य आर्थिक वैषम्य की खाई को देखकर उभय वर्गों की रिश्तेदारी कतई नही स्थापित होती। वैसे प्रयत्न करके ससुर-दामाद का सम्बन्ध-समीकरण आरोपित होने की सम्भावना को नकारा नही जा सकता। तंगदस्ती में भी जिजीविषा का मनोबल बनाये रखने वाला यह ससुर वर्ग चुनाव-काल मे वोट की बेटी चंद ठीकरों पर राजनेता-रूपी दामाद को सौंपकर दूसरे चुनाव की प्रतीक्षा तक पेट पर पट्टी बांधे, गुमसुम आँखें फाड़े, बिसूरता हुआ मौत से लड़ता रहता है। दामाद जू इसको देखने पर स्वयं मुस्कराकर मान लेते हैं कि बीमार ससुरों का हाल अच्छा है।

समूचे वर्ग का कोमल बिन्दु है दरिद्रता। दरिद्र नारायण का यह भक्त-वर्ग लक्ष्मी से प्रवंचित है। इस वर्ग का एक अंग सरस्वती का आराधक होने के कारण प्रबुद्ध है—चेतना-सम्पन्न है। समाज का यह निम्न मध्यम वर्ग प्रशासन की रीढ़ की हड्डी है। राजकीय तथा इतरेतर सेवा-कार्यों से जुड़े होने के कारण इसको प्रशासन का कच्चा-चिट्ठा ज्ञात होता है। इस वर्ग को पटाये रखने के लिए कुछ अनुलाभिक बोटियाँ शासन इनके सम्मुख फेंक देता है। उन बोटियों को हस्तगत करने के लिए इस वर्ग के व्यक्ति कुत्तों की तरह लड़ते हैं, यानी भौंकते हैं, एक-दूसरे पर झपटते हैं, काटते हैं। जिसे बोटी मिल जाती है, वह प्रसन्न होकर बॉस के सामने दुम हिलाने लगता है और जिसे नही मिलती, वह गुर्राता रहता है। इसकी चौकसी का आतंक उच्च वर्ग पर होता अवश्य है, किन्तु वह परेशान इसलिए नही होता क्योंकि अभावों के फलस्वरूप यह 'बिकाऊ माल' होता है। इसका मूल्य ढाल-जैसा ही होता है, तलवार-जैसा नही।

कदाचित् इस समूचे वर्ग को 'दो बूंद जल' (शैलेश मटियानी के उपन्यास) की रेशमा के माध्यम से अनुभव किया जा सकता है। रेशमा निम्न मध्य वर्ग की पढ़ी-लिखी युवती है। शिव-वल्लभ उसे अध्यापिका नियुक्त करा देने का प्रलोभन देता है। रेशमा उसके छलावे में फँस जाती है शिववल्लभ उसकी निर्मल काया को मलिन करता है रेशमा के शब्दों में ही उसकी दयनीयता का बयान सुनिये दो बरस तक प० शिववल्लभ ने मास्टरनी को सपने दिखाने के बाद

किनारा काट लिया था और मैंने अपनी पहली सन्तान को अपनी कोख से निकलते ही धरती में दबा दिया था।' (पृ० ८६)। दौलत ठाकुर ने भी रेशमा के साथ वही खेल खेला। उसे विवश होकर बच्चों के पालन-पोषण के लिए वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी। (पृ० ११)

स्त्री हो या पुरुष, रेशमा की भाँति इस वर्ग के व्यक्ति को चाँदी के ठीकरों के लिए अपने को बेचना पड़ता है। बहाना अपने पेट के गड्ढे को पाटने का हो अथवा परिवार का—व्यक्ति की गति—नियति विकल्परहित है।

कृषक सदैव ही शोषण का शिकार रहे है, विशेषतया वे जो स्वयं खेती करते हैं। कृषि में सुधार के लिए परंपरागत तौर-तरीकों को अलविदा दी जा रही है। विदेशों की नकल करने की प्रक्रिया में ट्रैक्टर, ट्यूबवेल, फर्टिलाइजर, श्रेष्ठ बीज का व्यवहार लागू किया जा रहा है। इन सबका लाभ वस्तुतः उठा रहे हैं गाँवों के पूंजीशाह। निर्धन कृषक की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं कि वह खेती के इन आधुनिक उपकरणों पर लाखों की पूंजी लगा सके। 'ऋणं कृत्वा कृषिं करोति' का परिणाम खेतों से भी हाथ धोना है। पूंजीशाहों से वह होड़ा-होड़ी नहीं कर सकता। लेकिन सरकार का सोचना और कहना है कि कृषि में अभूतपूर्व उन्नति हो रही है। कृषि पर निर्भर रहने वाली ग्रामवासी जनता अपनी जगह फटेहाल है। जमींदार और उसके अहलकारों के स्थान पर घूसखोर भ्रष्ट राजकीय कर्मचारी उनकी ठठरियाँ चूस रहे हैं। रामदरस मिश्र के 'जल टूटता हुआ' में ए० सी० ओ० मीठी-मीठी बातें कर ग्रामवासियों का शोषण करता है, अपनी तिजोरी भरता है। भोले-भाले ग्रामवासी देर में अनुभव कर पाते हैं कि 'भूरेन्द्र लाल किसी का नहीं, पैसे का है'। (पृ० ४६८)।

चकबन्दी का लक्ष्य है किसानों को एक ही स्थान पर भूमि प्रदान करना। भूमि-सुधार की इस प्रचेष्टा में हुआ यह कि उपजाऊ भूमिवालों को बंजर जमीनें मिल गई और बंजर भूमि वालों को उपजाऊ। इसके अलावा एक से अधिक भूस्वामित्व वालों में बँटवारे को लेकर परस्पर झगड़े खड़े हो गये। परिणाम—चकबन्दी के चक्कर में दलबन्दी, मुकदमेबाजी, मन-मोटाव, हिंसा आदि विकृतियाँ उत्पन्न हो गई। बाप-बेटा, भाई-भाई, चाचा-भतीजे, देवर-भौजाई के संबंधों का माधुर्य रीत गया। 'रेणु' ने 'परती परकथा' में छीजते रिश्तों का एक अंतरंग चित्र अंकित किया है—'बड़े-बड़े इज्जतदारों की हवेली में बन्द घूंघटों में छिपी बेवा औरतें पर्दे को चीरकर आगे बढ़ आई। अपने नाबालिग वंशधरों की अँगुलियाँ पकड़े खड़ी है। हुजूर देखा जाय।'''इन्साफ किया जाय हुजूर। इसका बाप कमाते-कमाते मर गया। कोल्हू के बैल की तरह सारी जिन्दगी खटते-खटते बीती और खाते में कहीं भी उसके लड़के का नाम नहीं। नाम दर्ज कर लिया जाय हुजूर।' (पृ० २७)।

कृषि से संसक्त श्रमिकों की स्थिति गाँवों में निश्चय ही चिन्त्य है। कृषकों को जब इनकी अपेक्षा होती है तो वे इनका उपयोग कर लेते हैं। यह इनका 'सराध पख' (श्राद्ध पक्ष) होता है। कोई सोचने वाला नहीं कि बेरोजगारी के दिनों में ये लोग खाते-पहनते भी है अथवा नहीं। ये जीने के लिए संघर्ष करने के बावजूद भी परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ रहते हैं। शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' में दिनकू के रूप में ऐसे ही मजदूर का चित्रण किया है। दिनकू जगजीत सिंह की हलवाही करने से इन्कार कर देता है। वह कहता है, "हम बिना रोजी-बन्नी के काम नहीं करेंगे। परती खेत लेकर हम क्या ओझा कब्बर बनायेंगे। हमारे छोटे-छोटे लरिका चार दिन से भूखे सोय रहे हैं। हमसे अइसा काम नहीं होगा।" (पृ० ७४२)।

जब कुत्ता अपने जीवन पर आसन्न संकट लक्षित करता है तो जहरीले दाँत निकाल कर

ताल ठोंक कर खडा हो जाता है। पेट की आग में झुलसते मनुष्य की भी कुछ ऐसी ही स्थिति होती है। ऐसे अवसर पर वह शोषक मालिक की उपेक्षा करने के लिए विवश हो जाता है। अर्थ की लक्ष्मण रेखा संबंधों की कटुता और कसैलेपन के रूप में प्रकट हो जाती है।

विपन्न जनों की दरिद्रता का दोहन करने के लिए पाशविक घिनौने तरीके भी अपनाये जाते हैं। कमल शुक्ल के 'पराजित' उपन्यास का सुशीलकुमार मुकर्जी बलवन्ती पर वशीकरण के प्रयोग करता है। इस पर भी जब बलवन्ती उसको रास नहीं आती तो वह चार सौ बीस कर उसके पति को भगवान् कृष्ण के जन्म-स्थान में पहुँचा देता है और इस प्रकार बलवन्ती की कायिक मर्यादा का अतिक्रमण कर अपनी पशुवृत्ति की भड़ास निकालता है। ऐसा ही कुछ डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोसलाँ' और 'साँप' में 'सुभागी' के साथ घटित होता है। तहसीलदार सुभागी के रुग्ण पति के उपचार के प्रयत्न मे छद्म सहायक बनकर उसकी काया से खेलता है। निर्धनता के अभिशाप का मूल्य चुकाने के लिए किसी के उत्कृष्टतर अर्धाङ्ग को परकीया बनने पर विवश होना पड़ता है।

अर्थाभाव का एक पुष्प है अशिक्षा जो दरिद्र नारायण की संतति में अंधविश्वास के रूप मे फलता है। विश्व के संपन्न राष्ट्र अंतरिक्ष में टँगे ग्रहों की जानकारी कर रहे हैं तो विपन्न देशो मे तांत्रिकों के चक्कर मे स्त्री-पुरुष सामूहिक रूप से झमुआते देखे जा सकते हैं। स्वयं अस्वस्थ सिद्ध-तांत्रिक भूत-प्रेत-चुड़ैलों को भगाने में संलग्न हैं। निराकार को साकार पर थोपने का—उभय को अद्वय करने का चमत्कार-प्रपंच बुद्धिजीवियों का ऐसा चक्रव्यूह है जिसमें अनपढ़ और अर्द्धशिक्षित ही नही, प्रकाण्ड ज्ञान-संपन्न अभिमन्यु तक फँस जाते हैं। रेणु के 'मैला आँचल' के 'जोतसी' काय-चिकित्सको के विषय मे अपना मतव्य व्यक्त करता है—"डाक्टर लोग रोग फैलाते हैं, सुई भोक कर देह मे जहर देते हैं, आदमी हमेशा के लिए कमजोर हो जाता है, हैजा के समय कुओं मे दवा डाल देते हैं, गाँव का गाँव हैजा में समाप्त हो जाता है। पूरब मुलुक कामरूप, कमिच्छा, आसाम से काला बुखार वालो का लहू शीशी में बन्द करके यही लोग लाये थे। आजकल गाँव-गाँव मे काला बुखार फैल रहा है। इसके अलावा विषैली दवा में गाय का खून मिला रहता है।" (पृ०१८)

विवेकी राय 'बबूल' में भूत भागने का मन्त्र तो बताते ही है, उपचार का ऊँचा नुस्खा भी पेश करते हैं। सुनिये उन्ही के शब्दों में—

"अभी खाली हाथ बैठा है लुच्चा कहीं का। ला एक मन सिन्दूर, आधा मन गाँजा, पच्चीस बोतल दारू, तीस सेर कपूर, पाँच पसेरी सुर्ती, ढाई मन दूध······ ।" (पृष्ठ ७१)

सूची की आपूर्ति के लिए जो पूँजी अपेक्षित हो सकती है, उसके विषय में कुछ न कहना ही उचित है।

यदि मनुष्य को सत्साधनों के माध्यम से अन्नमय कोष की आवश्यकता पूरी करने मे अनुल्लंघ्य बाधा से जूझना न पड़े तो कदाचित् कोई भी गलत साधनों का सहारा नहीं लेना चाहेगा। देश में डाकुओं ने अनेक बार आत्म-समर्पण किया, इसीलिए कि उन्हें स्वयं कहीं लगता है कि रात-दिन छीना-झपटी, लुका-छिपी, सतर्कता-संघर्ष का जीवन जीवन नहीं है। वे भी भलेमानस की तरह जीने की कामना करते हैं, लेकिन वे देखते है कि समाज का एक वर्ग अपने बौद्धिक कौशल एवं संसाधनों से दूसरों का प्राप्य हड़पता जा रहा है—वह भी इस सीमा तक कि आम आदमी के लिए उच्छिष्ट भी अवलेष नहीं रहता इसी मानसिकता के [illegible] करने पर उसे दाताराम की सामाजिक [illegible] और न्याय को चुनौती देने की [illegible] का अनुभव

होता है। उसे अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना अपरिहार्य लगने लगता है और फिर वह बल-प्रयोग को अधिकार मानकर स्वेच्छाचारिता पर उतर आता है।

चोरी, राहजनी, लूट-पाट, डकैती के कारण निर्विवाद रूप से धन का असमान वितरण है। रोचक व्यंग्य यह है कि पूँजीशाह और अर्थपति बौद्धिक कौशल से दूसरों का अंश मार लेते हैं तो वह न्यायोचित माना जाता है और जब विपन्न अपने अधिकार के लिए अपने तरीकों से काम करता है तो उसे अपराधी घोषित किया जाता है। उसके कार्य को अनैतिक और अमानवीय करार दिया जाता है। साधन-सम्पन्न सहस्रों हत्याएँ करे, किन्तु उसे कातिल कोई नहीं कह सकता। विपन्न किसी को खरोंच भी लगा दे तो तत्काल कटघरे में खड़ा कर दिया जाता है। ये दोहरे सामाजिक मानदण्ड स्वयं अपनी व्यथा-कथा कहते हैं।

जो भी हो, सामाजिक न्याय-व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने वाला अपराधी माना जाता है। चोर, डाकू, जुआड़ी, शराबी, शरीर-व्यापारी चाहे जो हो, एक बार गलत कदम उठा लेने के बाद अपराध-मुद्रित हो जाता है। फिर वह समाज से बहिष्कृत हो जाता है। समाज उसे अपनाने को तैयार नहीं होता। विवशता में संबद्ध व्यक्ति तथाकथित अपराध को व्यवसाय बना लेता है। कातिल का मनोविज्ञान बन जाता है कि वह हत्या एक करे या एक हजार, फाँसी तो एक ही बार मिलेगी। इस प्रकार की मानसिकता विकसित हो जाने पर व्यक्ति अपनी प्राथमिक अपेक्षाओं की आपूर्ति के लिये अपराध-वृत्तियाँ करता रहता है। 'दिशाहीन' में मन्मथनाथ गुप्त कुमार डकैत के माध्यम से कहलाते हैं, 'मेरा जीवन आदर्शवादी था।'''किसी डाके में स्त्रियों के प्रति अत्याचार नहीं होने दिया। मान्धाता की तरह उसने न जाने कितने गरीब बापों को दहेज जुटाने में सहायता की थी।'

हमारी समाज-व्यवस्था व्यक्ति को सुधरने का अवसर नहीं देती। इसका सहज परिणाम अपराधों के गुणनफल के रूप में वृद्धि होते जाना है। बलात्संग का शिकार होने के पश्चात् नारी के लिए समाज में स्थान नहीं रह जाता। जीने का विकल्प प्रकट है। अपराध का सक्रिय तत्त्व समुचित दंडाभाव में सीना तानकर घूमता है। निष्क्रिय निर्दोष तत्त्व सहानुभूति के स्थान पर दंडित होकर तिल-तिल कर लाचार जीवन जीने के लिए अभिशप्त होता है।

शिवानी के उपन्यास 'रति विलाप' की एक चरित्र है हीरा। बाल्यावस्था में उसका परिणय हो गया। उसका बर्बर पति निरन्तर उस पर पाशविक अत्याचार करता था। एक बार आत्मरक्षा के उपक्रम में हीरा के हाथों उसके पति की मृत्यु हो जाती है। कानून उसे हत्यारिन करार देता है। कारावासावधि के समापन पर वह अनसूया के आश्रम में शरण ग्रहण करती है। उसकी मानसिकता अर्थोपार्जन पर केन्द्रित हो जाती है। अर्थ-संचय के लिए वह मानव-मूल्यों की उपेक्षा कर अनैतिक ससाधनों के अवलम्ब का उपयोग करती है।

विमल मिश्र के 'गवाह नं० ३' में निशिकान्त अपनी भाभी की लाज बचाने की चेष्टा में 'सेठ' की हत्या कर देता है। निशिकान्त के बचाव में सरयू कहती है, 'निशिकान्त मेरा अपना देवर है। मेरे पति का सहोदर भाई है। आज आप जिसे कटघरे में असामी के रूप में देख रहे हैं, वह देवता समान आदमी है निशिकान्त। तथा इसीलिए आज मैं भी जिन्दा हूँ। आपको नहीं मालूम कि यह कैसे चरित्र का आदमी है। यह स्कूल-कालेज का प्रतिभावान् छात्र फर्स्ट लाता था अपने क्लास मे। सोने का तमगा जिसे मिला था मेरी शादी के समय वह कोलियरी में नौकरी करता था,

बाहर ही रहता था। आज हालात ने उसे शराबी बना दिया है। लेकिन किसी ने उसे जानने की कोशिश नहीं की। गरीबी ही हमारे जीवन के अधःपतन का कारण है।' (पृ० ४४)

संसार में लक्ष्मी का सदा से ही शासन है। जो बात कबीर, जायसी, सूर जैसे सन्तों के पल्ले नहीं पड़ सकी, उस तत्वज्ञान को बिहारी ने अनुभव किया और नितांत सहजता से अभिव्यक्त कर दिया—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय॥

उन्होंने विष्णु-प्रिया राधा के रूप में लक्ष्मी से ही बाधा हरने को कहा। संसार वालों को स्पष्ट बताया कि उनकी 'झाईं' पड़ भर जाय, फिर तो श्याम, जनता जनार्दन के प्रतिनिधि दरिद्र नारायण को भी हरियाली सूझती है, अन्यथा उनके मुखड़े पर भी अमावस्या की अन्धकारमय कालिमा छाई रहती है। भगवान् का साम्राज्य यदि होगा तो संभवतः अपरलोक में, यह भौतिक लोक तो महालक्ष्मी की भ्रूभंगिमा के अनुसार ही उठता, बैठता, चलता, फिरता, कूदता, नाचता, बजाता-गाता है। जो विवेक-सम्पन्न हैं, वे उलूक बनकर उलूक-वाहिनी को ही अपनी काया के अणु-परमाणु में बसाना पसन्द करते हैं।

इलाचन्द्र जोशी दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न कथाकार थे। 'जहाज के पंछी' में नायक को उन्होंने परम-मेधावी चित्रित किया। किसी सभा-गोष्ठी में उसका बौद्धिक टेप गूढ़तम विषय के रग-रेशे उद्घाटित कर श्रोतावर्ग को मन्त्रमुग्ध कर देता था। किन्तु हंसवाहिनी का सिद्ध उपासक होने के बावजूद वह रबर की गेंद ही बना रहा। विष्णुप्रिया के पुष्टिमार्ग से कटे रहने के कारण उसका हुलिया ही, सर्वथा अंतरंग स्तर पर सही होने पर भी, लोगों के सामने गलत पेश हो जाता था। जोशी जी के मतानुसार उसकी वेशभूषा ही कुछ इस प्रकार बन गई थी कि लोग उसे निरपराधी होते हुए भी अपराधी करार देते थे। कालेज स्क्वायर में संदेह के कारण एक छात्र उसे पुलिस के हवाले कर देता है। भीड़ का एक आदमी बोलता है, "मैं भी कई दिनों से इस आदमी को 'मार्क' कर रहा हूँ। पहले दिन इसे देखते ही मैं समझ गया था कि यह घिसा हुआ गिरहकट है।" छात्र के अनुसार 'वह नम्बरी गुण्डा है।' पुलिस वाला उसे 'पक्का दस नम्बरी' घोषित करता है।

'जहाज के पंछी' के नायक का अपराध है निर्धनता। इस अपराध के दंड की प्रथम किस्त पढ़िये—पुलिस वाला हताश मनःस्थिति में मुझे बुरी तरह घसीटता हुआ पार्क के बाहर ले गया। कुछ दूर आगे ले जाकर एक धक्का देकर उसने मुझे छोड़ दिया।......दाँतों से होंठ कट जाने से मेरे मुँह से खून गिरने लगा, केवल इतना ही मुझे याद है। जाहिर है कि मैं बेहोश हो गया हूँगा। क्योंकि उसके बाद दिन की कोई स्मृति मुझे नहीं है।' (पृ० १६)।

अपराध का मनोविज्ञान विलियम शेक्सपियर ने इस प्रकार आख्यायित किया है—

'मैं रक्त (पात) में
इतनी दूर तक बढ़ चुका हूँ कि यदि मैं और न भी करना चाहूँ
तो वापस लौटना उतना ही दुष्कर है जितना आगे बढ़ते जाना'

(मैकबेथ, ऐक्ट थर्ड, सीन फोर्थ, पृ० १३६ से अनूदित)

जयशंकर प्रसाद ने स्कन्दगुप्त में भटार्क के द्वारा यही बात अत्यंत मार्मिक शब्दों में कहलाई है—

'ओह! पाप पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं। कुकर्म जकड़कर अपने नागपाश में बाँध लेता है।' (पृ० ८१)।

एक बार गलत काम करने के बाद जब व्यक्ति कानून की गिरफ्त में आ जाता है तो

उसकी तामसिक वृत्तियाँ उसे अपराध करने के लिये बार-बार प्रेरित एवं प्रोत्साहित करती हैं। उसकी अंतरात्मा मर जाती है। ग्लानि तथा लज्जा से उसका नाता टूट जाता है अथवा वह स्वयं तोड़ देता है। ऐसे व्यक्ति सिर पर कफन बाँधकर अपराध करते हैं। अपने कुकर्म को कार्यान्वित करने में वे पूरी सतर्कता और सावधानी बरतते हैं। वे प्रशासकीय पहरेदारों तक को 'सिलवर टॉनिक' पिलाकर वशीकृत रखते हैं।

शकुन्तला मिश्र के उपन्यास 'कच्ची मिट्टी' में रहमत तथा बुद्धू खटिक कुछ इसी प्रकार के चरित्र हैं। दोनों का व्यवसाय ही कानून का अतिक्रमण है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं व्यापती कि वे स्वयं मृत्यु की वरमाला धारण करेंगे अथवा दूसरे को मौत के घाट उतारेंगे। उन्हें मतलब है केवल रुपयों से। बुद्धू खटिक की दुरभिसंधि की बानगी देखिये—'आज रात को सख्त दिल बनाकर, इस लड़की को ठीक-ठाक कर डालें, ताकि यह आपकी माफ़िक न करे तो मुखालिफत भी न कर सके।' (पृ० १६७)। यह परामर्श बुद्धू खटिक नवीन को इन्दु का अपहरण करने के सन्दर्भ में देता है।

आचार्य विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण जैसे महान् संत नेताओं ने अपराधियो की मनोवृत्ति को परिवर्तित करने के लिए प्रयत्न किये, किन्तु समस्या का निदान इसीलिए नहीं हो सका कि समाज में आर्थिक विषमता की जड़ें बहुत गहरी हैं। एक ही देश में जनमे लोगो मे यह अनुपात आकाश और पाताल का जब तक बना रहेगा, तब तक तलोपरिक उपचार निकम्मे रहेंगे। आश्चर्य तो तब होता है जब गगनचारी राजनेता गांधारी की भाँति आँख पर पट्टी बाँधकर आम आदमी को उनका अधिकार देने-दिलाने का स्वाँग कर 'मत' की भीख माँगने पहुँच जाते हैं। गान्धारी और अन्धे धृतराष्ट्र को अपने ९९ पुत्र खोने के बाद कदाचित् महाभारत के नरसंहार का कुछ अनुमान भी हो सका था, किन्तु वर्तमान शती में सोना-रूपा की चमक-दमक में अर्थ-पतियों की आँखें इस कदर चौंधिया गई हैं कि उन्हें 'एकोऽहं' के अतिरिक्त संभवत: कुछ भी नहीं सूझता। धन कुबेर बनने की इनकी आकांक्षा इतनी प्रबल है कि इनमें हरेक वित्तीय एवरेस्ट के शिखर को चूमना चाहता है, हूहों और पिरामिडों के लिए भी कुछ अपेक्षित है, यह चिन्ता केवल उनके अधरों का स्पर्श कर पाती है। ये अर्थधारी अपने कौशल से तीन सौ पैंसठ दिन भीषण नर-संहार में संलग्न हैं। इनकी संग्रह-वीरता के शिकार हैं निर्धन। निर्धनता मिटाने के लिए ये पूँजीशाह निर्धनों को ही मिटाना श्रेयस्कर मानते है।

योगफल यह कि हिन्दी के उपन्यासों में समाज में व्याप्त आर्थिक वैषम्य को अनुरेखित तो किया गया है, लेकिन रचनाकारों को जितना बौद्धिक आलोक इस कथ्य पर डालना चाहिए, वह वाछनीय स्तर तक नहीं किया गया है। प्रेमचन्द के होरी, घीसू, माधव, हल्कू की आत्माएँ देश में चतुर्दिक् मंडरा रही हैं। कथाकार-तांत्रिकों को उनकी आत्मा को सिद्ध करना है, सक्रिय करना है, ताकि आर्थिक स्तर पर विभाजित-विखंडित राष्ट्र को अनेकता से मुक्त करने की दिशा में अग्रसर किया जा सके। देश के विशाल नक्कारखाने में थाना हैं, कचहरी हैं, हाईकोर्ट हैं, सुप्रीम कोर्ट है, पार्लियामेंट है, प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकारें हैं, किन्तु सब कुछ प्रथम एवं द्वितीय भारतवासियो के लिए है, विपन्नता में आकंठ-मग्न तूतियों की चीख-पुकारें सुनने के लिए कहीं कोई कान ही नहीं और यदि होगा भी तो वह हाथी दाँत का बना होगा जिससे होकर चीत्कार दूसरे पार निकल जाती है।

हिन्दी विभाग,
यूनिवर्सिटी

इतिहास, कहानी और उपन्यास

श्री महेशचन्द्र यादव

प्रस्तुत लघु लेख का उद्देश्य इतिहास, कहानी और उपन्यास के मध्य अन्तर्निहित साम्य और अन्तर को स्पष्ट करना है। इतिहास अपनी प्रक्रिया में कहानी और उपन्यास के बहुत निकट आ जाता है। इतिहास-लेखन की प्रक्रिया भी उसी प्रकार संचालित होती है जिस प्रकार कहानी और उपन्यास की होती है। इतिहास, कहानी और उपन्यास में अन्तर्निहित साम्य और अन्तर को स्पष्ट करने से ज्ञान की इन तीनों ही विधाओं के स्वरूप को समझने में सहायता मिल सकेगी।

यदि इतिहास, कहानी और उपन्यास के लेखन का विश्लेषण किया जाए तो तीनों में ही समान प्रवृत्ति दिखाई देती है। एक कहानी अथवा उपन्यास लेखन हेतु जिन प्रश्नों, समस्याओं और बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक होता है, उन्हीं प्रश्नों, समस्याओं और बिन्दुओं का सामना इतिहास-लेखन में भी करना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से तीनों ही विधाओं में साम्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इतिहास, कहानी और उपन्यास के अपने उद्देश्य और प्रयोजन भिन्न-भिन्न होते हैं, तथापि एक कहानीकार के समक्ष अथवा एक उपन्यासकार के समक्ष जो प्रश्न व समस्याएँ उपस्थित होती हैं, इतिहासकार के प्रश्न व समस्याएँ उससे भिन्न नहीं होती हैं। इतिहासकार इतिहास-लेखन प्रक्रिया में जिन समस्याओं को अनुभूत करता है, वे वही समस्याएँ होती हैं जिनसे कहानीकार अथवा उपन्यासकार अपने लेखन के दौरान जूझता रहता है। अस्तु, इतिहास, कहानी और उपन्यास के मध्य साम्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

किसी भी कहानी-हेतु कुछ तत्त्व आवश्यक होते हैं। इन तत्त्वों अथवा लक्षणों के बिना कोई भी कहानी कहानी नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में यदि इस तथ्य को रखा जाए, तो कहा जा सकता है कि किसी कहानीकार को कहानी लिखने से पूर्व किन्हीं निश्चित बातों की आवश्यकता होती है अथवा उन पर विचार करना आवश्यक होता है। इन पूर्व-मान्यताओं को स्वीकार किये बिना कोई कहानीकार अपने लेखन में सफल नहीं हो सकता है। कहानीकार की एक मुख्य आवश्यकता कल्पना-शक्ति है। कहानी-लेखन में कल्पना-शक्ति की अपूर्व भूमिका होती है। कहानीकार अपनी कल्पना से ही कहानी को जीवन्त बनाता है। कल्पना-शक्ति का उपयोग कहानीकार कहानी की किन्हीं दो घटनाओं अथवा पूर्ववर्ती और परवर्ती अनुक्रम के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने में करता है। यह सम्बन्ध कहानी के पाठक को ऐसा लगता है कि कहानी में जो सम्बन्ध प्रस्तुत किया गया है, वह सम्बन्ध इसके अलावा अन्यथा घटित नहीं हो सकता था, अर्थात् वह सम्बन्ध नैसर्गिक और तार्किक प्रतीत होता है। कल्पना कहानी में किन्हीं दो अवस्थाओं के मध्य सामंजस्य व तारतम्य स्थापित करने में सहायता करती है। इसके फलस्वरूप ही कहानी का घटनाक्रम वास्तविक और जीवन्त दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार कल्पना-शक्ति को कहानी-लेखन की एक आवश्यक शर्त माना जा सकता है।

कहानी का एक मुख्य तत्त्व बोधगम्य अनुक्रम है। कहानी 'एक ऐसा वृत्तान्त है जिसमें को क्रमिक रूप म प्रकट होने वाली कतिपय आकस्मिक घटनाओं के माध्यम से शिरोबिन्दु

तक पहुँचाया जाता है। कहानी में वर्ण्य घटनाओं का उनके आरम्भ से अन्त तक उन तमाम आकस्मिक घटनाओं की रेलम-पेल में बोधगम्य अनुक्रम पाते हैं। कहानी में शुरू से अन्त तक बोधगम्य अनुक्रम दृष्टिगत होना अनिवार्य है और यह कहानी के अन्त तक बना रहना आवश्यक है। हो सकता है कि हमे कहानी के आरम्भ में ही ऐसा कुछ भान होने लगे कि हो न हो, अन्त अमुक प्रकार का होगा। लेकिन यदि हमें कहानी के आरंभ में ही उसके अंत का निश्चित पूर्वकथन करने की क्षमता प्राप्त हो जाय तो फिर कहानी के लिए यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा, क्योंकि तब पाठक की उसे आखिर तक पढ़ने में रुचि नहीं रहेगी। एक कहानी के कहानी-रूप को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि यह बात अन्त तक अनिश्चित बने रहे कि उसका अन्त क्या होगा। यहाँ हम पाते हैं कि कहानी का अन्त कतिपय प्रतिज्ञा-वाक्यों से एक तार्किक निगमन नहीं होता है जिसमें निष्कर्ष पूरी तरह आधार-वाक्यों पर आश्रित हो। कहानी की अन्तिम घटना की उसकी शेष क्रमिक पूर्ववर्ती घटनाओं पर एकपक्षीय आश्रितता नहीं होती। इसके विपरीत कहानी की तर्क-योजना मे परवर्ती घटनाये पूर्ववर्ती घटनाओं को उतना ही प्रभावित करती हैं जितना कि पूर्ववर्ती घटनाएँ परवर्ती घटनाओं को। अस्तु, कहानी की घटनाओं के मध्य शुरू से आखिरी तक एक बोधगम्य अनुक्रम अनिवार्य है।

कहानी का एक अनिवार्य तत्त्व अभिरुचि है। कहानी में हमारी अभिरुचि उन विशिष्ट रूप से मानवीय तत्त्वों से उत्पन्न होती है जो लेखक, पाठक और कहानी के पात्रों सभी की मनो-रचना में सामान्य रूप से उपलब्ध होते हैं। कहानी केवल अन्त जानने के लिए नहीं पढ़ी जाती। हमारी अभिरुचि कहानी के आदि, मध्य और अवसान सभी मे समान रूप से होती है। यदि कहानी से अभिरुचि का तत्त्व हटा दिया जाए, तो कहानी नीरस हो जायेगी और कोई भी पाठक उसमे रुचि नहीं लेगा। अतः कहानी-लेखन की एक अनिवार्य और आवश्यक शर्त अभिरुचि है जो पाठक को बाँधे रखती है।

कहानी-लेखन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु परिणाम है। प्रत्येक कहानी का कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है, यह परिणाम कहानी में अनेक संयोगों व आकस्मिकताओं के मध्य से गुजरने के पश्चात् प्राप्त होता है। संयोगों व आकस्मिकताओं से गुजरने के पश्चात् भी परिणाम बुद्धिगम्य होता है, यह कहानी की विशेषता है। कहानी के कई वैकल्पिक अन्त हो सकते हैं। किन्तु कहानी जिस अन्त अथवा परिणाम पर पहुँचती है, वह अन्त कहानी में स्वाभाविक लगता है, उस अन्त को स्वीकार करने मे किसी तार्किक कठिनाई का अनुभव नहीं किया जाता है। इस प्रकार कहानी का एक आवश्यक तत्त्व परिणाम है।

कहानी-लेखन-प्रक्रिया की समस्याओं और आवश्यक लक्षणों पर विचार करने के पश्चात् यदि अब इतिहास-लेखन-प्रक्रिया पर विचार किया जाए तो हम पायेंगे कि इतिहास-लेखन में भी उन्हीं समस्याओं और बिन्दुओं पर चिन्तन करना अनिवार्य होता है जिनका कि कोई कहानीकार अपनी लेखन-प्रक्रिया में सामना करता है। कहानीकार को एक मुख्य आवश्यकता कल्पना-शक्ति है। यही आवश्यकता इतिहासकार को भी अनुभव होती है। इतिहासकार कल्पना के माध्यम से अतीत की किन्हीं दो घटनाओं के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। वह इस बात का प्रयत्न करता है कि दो घटनाओं के मध्य सम्बन्ध उचित, बौद्धिक, नैसर्गिक व तार्किक बन पड़े और इस हेतु उसे कल्पना की आवश्यकता होती है। कल्पना का उपयोग करके ही वह ऐतिहासिक अनुक्रम को बोधगम्य बनाने में सफल हो पाता है। कल्पना शक्ति की आवश्यकता कहानीकार व इतिहासकार दोनों को ही होती है। किन्तु फिर भी कल्पना के स्तरों में भेद हो

सकता है। कल्पना का जिस स्तर अथवा जिस रूप में कहानीकार उपयोग करता है, इतिहासकार उस रूप मे न करे। इतिहासकार अन्य रूप में कल्पना का उपयोग करे। लेकिन फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि इतिहास-लेखन में भी कहानी की भाँति कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है।

बोधगम्य अनुक्रम के बिंदु पर कहानी और इतिहास-लेखन में पूर्ण साम्य दृष्टिगोचर होता है। इतिहासकार के लिए ऐतिहासिक घटनाक्रमो को बोधगम्य बनाना अनिवार्य होता है। यदि ऐतिहासिक घटना-क्रम बोधगम्य नहीं होंगे तो इतिहास का कोई अर्थ नही रह जायेगा। इतिहासकार अपने लेखन में जिन घटनाओं को वर्णित करता है, वह उन घटनाओं के मध्य बोधगम्य अनुक्रम स्थापित करने का प्रयास करता है, इसके फलस्वरूप ही उसकी व्याख्या स्वीकार्य बन पाती है। बोधगम्य अनुक्रम और व्याख्या के मध्य निकट का सम्बन्ध है। जिस इतिहासकार के घटना-क्रम अधिक बोधगम्य अनुक्रम में प्रस्तुत होंगे, उसी इतिहासकार की व्याख्या भी उतनी ही अच्छी होगी।

कहानी की एक मुख्य आवश्यकता अभिरुचि है। यदि इस बिन्दु की दृष्टि से इतिहास पर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट होगी कि इतिहास में अभिरुचि के बिन्दु की कोई भूमिका नहीं है। इसका कारण यह है कि कहानीकार जिन घटनाओं को प्रस्तुत कर रहा होता है, उनमें सभी पाठकों की अत्यन्त सहज और प्रबल अभिरुचि होती है, क्योंकि वे घटनाएँ पाठकों के जीवन के बहुत ही समीप होती हैं। इसके विपरीत ऐतिहासिक घटनाएँ विशिष्ट रूप से संकलित घटनाएँ होती हैं और उनमें साधारण पाठक को कोई प्रबल अभिरुचि नही होती। वे घटनाएँ प्राय: ऐसी भी होती हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को एकसमान रूप से नहीं छूतीं और जिनके घटित होने के क्रम में कुछ न कुछ बौद्धिक समस्या अवश्य छुपी रहती है। तात्पर्य यह है कि इतिहासकार बिना किसी प्रकार की समस्या को सामने रखे इतिहास नहीं लिखता। इसके विपरीत कहानीकार का उसके द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की निजी रोचकता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

अब परिणाम के बिन्दु को लें। परिणाम के बिन्दु पर विचार करें तो हम पायेंगे कि कहानी और इतिहास में साम्य दिखाई देता है। इतिहासकार भी कहानीकार की भाँति अपनी लेखन-प्रक्रिया में किसी परिणाम अथवा अन्त पर पहुँचता है। वह अपनी लेखन-प्रक्रिया में अतीत में घटित घटनाओं के मध्य कारण-कार्य-सम्बन्ध तथा अतीत मे घटित संयोगों और आकस्मिकताओं की व्याख्या के माध्यम से ही किसी परिणाम पर पहुँचता है। इतिहास के पाठक को यह परिणाम तार्किक एवं बौद्धिक अनुभूत होता है। अत: यह कहा जा सकता है कि परिणाम के बिन्दु पर भी कहानी व इतिहास के मध्य पर्याप्त साम्य है।

इसके अलावा इतिहास और कहानी दोनों में ही हम पाते है कि कई अन्तिम स्थितियाँ अथवा कथित चरम-बिन्दु केवल अस्थायी होते है, क्योंकि एक घटना-समूह की निष्पत्ति से दूसरे घटना-समूह की उत्पत्ति संभव होती है और इस प्रकार जो एक कथा-धारा का अंत:स्थल होता है, वही दूसरी का आरम्भ-स्थल हो जाता है। इस दृष्टिकोण से भी इतिहास और कहानी में बहुत साम्य है क्योंकि दोनों में ही किसी चरम-बिन्दु को घटना-क्रम का रूप देकर आगे बढ़ाया जा सकता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास और कहानी में बहुत साम्य है। किन्तु इसके बाद भी इतिहास के कुछ लक्षण ऐसे हैं जो कहानी में उपलब्ध नहीं होते हैं और यही कुछ लक्षण इतिहास को कहानी से पृथक् करते हैं। इतिहास का एक अनिवार्य प्रमुख लक्षण यथार्थता है जो कहानी हेतु नहीं है यथार्थता से तात्पर्य है कि इतिहास में जिन घटनाओं

का वर्णन किया जाता है, वे अतीत में कभी यथार्थ रूप में घटित हुई होती है। दूसरे शब्दों में वर्णित घटनाएँ काल्पनिक नहीं होती है। कहानी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें जिन घटनाओं का वर्णन किया जाए, वे वास्तव में ही घटित हुई हों। इतिहास का एक अन्य प्रमुख लक्षण मूल्यांकन है। इतिहासकार जिन भी घटनाओं, कारणों आदि का वर्णन करता है, वह उनका मूल्यांकन भी करता चलता है। यह मूल्यांकन कई दृष्टिकोण से किया जाता है। इतिहासकार प्रायः अतीत की घटनाओं का मूल्यांकन वर्तमान के दृष्टिकोण से करता है। यही कारण है कि हर युग अपने समय की प्रचलित रुचियों, सैद्धान्तिक मान्यताओं और स्वीकार्य साक्ष्यों के सन्दर्भ में ही अतीत के किसी खण्ड पर दृष्टिपात करने को प्रेरित होता है। इतिहास का एक अन्य लक्षण जो कहानी में उपलब्ध नहीं होता है, वह भविष्य-दृष्टि है। यद्यपि ऐतिहासिक-बोध का स्वरूप भविष्य का निर्धारणात्मक नहीं होता है, किन्तु फिर भी वह भविष्य-दृष्टि देता है और हमें ऐतिहासिक भविष्य के विनियोजन मे कुशल बनाता है।

अब इतिहास और उपन्यास के संबंध को लें। इतिहास और कहानी की भाँति उपन्यास की एक मुख्य आवश्यकता कल्पना है। उपन्यासकार अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर ही उपन्यास को एक सामंजस्य व तारतम्य पूर्ण कृति बनाता है। कल्पना का योगदान उपन्यास के हर पृष्ठ पर देखा जा सकता है। कल्पना का उपयोग करके उपन्यासकार उपन्यास के पात्रों और परिस्थितियों को प्राणवान् बनाता है। उपन्यास में दो पात्रों अथवा दो परिस्थितियों के संबंध को जीवन्त बना देना कल्पना का ही परिणाम है। अतः उपन्यास में कल्पना के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

उपन्यास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामंजस्य (कोहरेन्स) है। उपन्यासकार का यह कर्तव्य होता है कि उसने जिन पात्रों व परिस्थितियों को प्रस्तुत किया है, उनके मध्य वह सामंजस्य स्थापित करे। जो उपन्यासकार अपने कार्य में अधिक सामंजस्य बता पाने में सफल हो पाता है, वह उतना ही अच्छा उपन्यासकार माना जाता है। मान लो यदि किसी उपन्यास में विभिन्न पात्रों व विभिन्न परिस्थितियो के मध्य उचित व नैसर्गिक सामंजस्य दृष्टिगत नहीं होता है तो वह उपन्यास पाठक को अधिक प्रभावित नहीं कर पाता है और यही उसकी असफलता है। इसलिए उपन्यास में सामंजस्य के तत्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

उपन्यास के इन लक्षणो को यदि इतिहास पर लागू करके देखा जाये तो ये लक्षण हू-ब-हू उतरते हैं। इतिहास में कल्पना-शक्ति की कितनी आवश्यकता होती है, यह पहले ही देख चुके हैं। सामंजस्य के बिन्दु पर भी उपन्यास और इतिहास में पूर्ण साम्य है। इतिहासकार अपनी लेखन-प्रक्रिया में जिन घटनाओं का वर्णन करता है, वह उनके मध्य पूर्ण सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। सामंजस्य के कारण ही उसका लेखन बोधगम्य बन पाता है।

इनके अतिरिक्त भी उपन्यासकार और इतिहासकार मे कई बिन्दुओं पर साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों ही घटनाओं से चित्र निर्मित करते हैं, दोनों ही परिस्थितियों का वर्णन करते हैं, दोनों ही पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करते हैं। दोनों ही घटनाओं और पात्रों के कार्यों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि वे ऐसे प्रतीत होते हैं कि वे अन्यथा घटित नहीं हो सकते थे अथवा कोई पात्र इसके अलावा अन्य कर्म नहीं कर सकता था। उपन्यास और इतिहास दोनों ही स्वयं-व्याख्यायित (सेल्फ-एक्सप्लेनेटरी) और स्वयं-औचित्यपूर्ण (सेल्फ-जस्टीफाइड) होते है।

इस प्रकार उपन्यासकार और इतिहासकार के कार्यों में भिन्नता नहीं है। भिन्नता जिस बिन्दु पर है वह यह है कि इतिहासकार जो तस्वीर प्रस्तुत करता है उसे यथार्थ होना चाहिए

जबकि उपन्यासकार जो तस्वीर प्रस्तुत करता है, वह केवल सामंजस्यपूर्ण और बोधगम्य होनी चाहिए। इस प्रकार इतिहासकार का दोहरा कार्य हो जाता है, एक वह उपन्यासकार के कार्य की भूमिका निभाता है; दूसरी वह जिन घटनाओं का वर्णन करता है, वह यथार्थ होती है और अतीत में उसी रूप में घटित हुई होती है। इसके परिणामस्वरूप ही इतिहास पर तीन नियम लागू होते हैं जो कि उपन्यास पर लागू नहीं होते हैं। प्रथम---इतिहासकार द्वारा निर्मित चित्र का देश और काल में सुनिश्चित स्थान होना चाहिए। द्वितीय---समस्त इतिहास में आत्म-संगति होनी चाहिए क्योंकि जो वास्तव में घटित घटनाएँ हैं, उनमें परस्पर विसंगति और विरोध सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में, सभी इतिहास एक ही ऐतिहासिक जगत् के ऐसे खण्ड या अंश हैं जो परस्पर गुम्फित होकर उस ऐतिहासिक जगत् का निर्माण करते हैं। तृतीय -- इतिहासकार द्वारा निर्मित चित्र साक्ष्य-प्रमाणों की दीवार पर खड़ा होता है।

इतिहास, कहानी और उपन्यास-लेखन के मध्य अन्तर्निहित सम्बन्धों के विश्लेषण से यह बात प्रमाणित होती है कि ज्ञान की ये तीनों ही विधाएँ निकटतम सम्बन्ध रखती हैं। यद्यपि तीनों के मध्य कुछ विवच्छेदक बिन्दु भी हैं, किन्तु उसके बाद भी तीनों की परस्पर अन्योन्याश्रिता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। ज्ञान की इन विधाओं के साम्य और अन्तर का विश्लेषण इनके स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है। किन्तु इनके निश्चित स्वरूप-निर्धारण हेतु अधिक शोध अपेक्षित है।

शोध-छात्र, दर्शन-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

हिंदी कथा-साहित्य : सौंदर्य-भावना और शोध

कु० जीवन्ती उपाध्याय

साहित्य मानव-समाज का मस्तिष्क है और साहित्य की सृष्टि का मूल आधार है—सौन्दर्य। सौन्दर्य के अभाव में साहित्य अस्तित्वहीन है। सौन्दर्य का विविध रूपों में साक्षात्कार करने के उपरान्त साहित्यकार का आनन्द-विभोर मन उसे अभिव्यक्त करने के लिए व्याकुल हो उठता है। परिणामतः वह भाषा-शैली का सहारा ले अपनी लेखनी से साहित्यिक सौन्दर्य के भव्यतम रूपों की सृष्टि करता है।

साहित्य और सौन्दर्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। साहित्य-रूपी विराट भवन का निर्माण सौन्दर्य के विविध उपकरणों से होता है। यों तो सौन्दर्य का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है, उसका एक अंग साहित्य पर भी आधारित है, साथ ही यह भी सत्य है कि सौन्दर्य को जितना बल उसके साहित्यिक रूप से मिलता है, उतना किसी अन्य रूप से नहीं। साहित्यिक सौन्दर्य की महत्ता का यही कारण है।

साहित्य का उद्देश्य मात्र कला की अभिव्यक्ति न होकर मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति भी है। उसका स्रोत मानव-जीवन तथा उसकी आसंग गतिविधियाँ हैं। डब्ल्यू० एच० हड्सन के शब्दों में—'साहित्य भाषा के माध्यम से मूलतः जीवन की अभिव्यक्ति है।'[1] कला तथा साहित्य का विकास मानव-जीवन-स्यूत होता है। साहित्य और मानव-जीवन 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' के समान अन्योन्य भाव से संपृक्त हैं। एक ओर जहाँ वह व्यक्तिगत है, दूसरी ओर समष्टिगत भी। इसीलिए उसमें यथार्थ एवं सौन्दर्य का पुट पाया जाता है। साहित्यकार के लिए इनकी उपेक्षा सम्भवतः सम्भव नहीं हो पाती। साहित्य के चित्र कैमरे के चित्र नहीं होते, अपितु साहित्यकार की कूँची द्वारा चित्रित अनुभव एवं कल्पना के सौन्दर्य के रंगों में रँगे चित्र होते हैं।

समाज में चिरन्तन सौन्दर्य की प्राणवान् प्रतिभा की स्थापना के लिए साहित्यकार अथवा कलाकार कल्पना के पंखों पर आरूढ़ होकर व्यक्ति एवं समाज-सापेक्ष सौन्दर्यमूलक साहित्यिक प्रतिभाओं—निबन्ध, कविता, कहानी, नाटक, एकांकी तथा उपन्यास आदि का निर्माण करता है। साहित्य की विविध विधाओं का सौन्दर्य से विच्छेद उतना ही असंगत है जितना शब्द का स्वयं उसके अर्थ से।[2]

हिन्दी के कुछ विद्वानों[3] की ऐसी धारणा है कि सौन्दर्य-भावना केवल कविगत होती है, कथाकारगत नहीं, परन्तु उनकी धारणा में कोई बल नहीं है, क्योंकि कहानीकार और कवि की रचनाधर्मिता में अन्तर करना समुचित नहीं जान पड़ता। दोनों एक ही भाव की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में करते है। एक का माध्यम पद्य है तो दूसरे का गद्य। जबकि ये दोनों विधाएँ साहित्य का अभिन्न अंग हैं। मात्र काव्य में ही सौन्दर्य-भावना देखना कथा-साहित्य के साथ घोर करना है सौन्दय भावना की अभिव्यक्ति के उपकरण कवि और कथाकार के लिए अलग

अलग हैं, लेकिन मूलतः दोनों ही अपनी-अपनी भाषा-शैली में उसी सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। अतः कथा-साहित्य में सौन्दर्य-भावना की खोज पर प्रश्नचिह्न लगाना कथा-साहित्य की मूल संवेदना के साथ अन्याय करना है।

आज हिन्दी साहित्य-जगत् में कथा साहित्य की अनेक विधाएँ प्रचलित हैं जिनमें साहित्यकार प्रतीयमान अनुभूति को रूपायित करता है। यही नहीं, किसी भी आधुनिक समस्या एवं मानवीय भावना को अभिव्यंजित करता है। कवि के समान ही अनुभूत जीवन का प्रतिभास निर्मित करता है। उसका लक्ष्य मनोरंजक स्वप्न-चित्र दिखाना मात्र नहीं, अपितु भावना के पारदर्शी प्रतीकों का भावानयन कराना भी है। प्रतीयमान निर्मिति के उद्देश्य से कथाकार भी अपने शब्दों को उतनी ही सूक्ष्मता से ग्रहण करता है जितनी सूक्ष्मता से कवि। काव्य और कथा में मुख्यतः साधनों और प्रभावों का ही अन्तर है। कथाकार भी स्वकौशल से जीवन को काट-छाँट कर ऐसे रूप में प्रस्तुत करता है जो सौन्दर्य-भावना से परिपूर्ण हो, आकर्षक हो तथा प्रभावशाली हो। परन्तु प्रश्न है सौन्दर्य है क्या ?

सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करने वाले शास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है। सौन्दर्यशास्त्र भारतीय वाङ्मय के लिए नया शब्द है जिसका निर्माण अंग्रेजी के Aesthetics के आधार पर हुआ है। Aesthetics शब्द यूनानी भाषा के Aesthesis शब्द से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है ऐन्द्रिय-संवेदना। इस प्रकार Aesthetics का शब्दार्थ होता है—ऐन्द्रिय संवेदना का शास्त्र।[४]

सौन्दर्य एवं सौन्दर्यशास्त्र को भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है। भारतीय विद्वानों द्वारा दी गई कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं—

१. 'कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।'[५]

२. 'अपनी अनुभूति, प्रत्यक्ष स्मृति, कल्पना आदि द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाली वस्तु के गुण को सौन्दर्य और वस्तु को सुन्दर कहते हैं।'[६]

३. 'स्थूल या सूक्ष्म जगत् में आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।'[७]

४. 'सौन्दर्यशास्त्र से मेरा आशय दर्शन के उस विभाग से है जो सुन्दर पदार्थों की सत्ता और उनके विषय में मानव जाति के प्रति संवेदन, कलात्मक कर्तृत्व और उसके प्रति मानव-मन की प्रतिक्रिया तथा इससे सम्बद्ध चिन्तन-मनन आदि से उत्पन्न समस्याओं पर विचार करता है।'[८] पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषा से भारतीय और पाश्चात्य सौन्दर्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य के स्वरूप पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है। कुछ सौन्दर्य को वस्तुगत, कुछ आत्मगत और कुछ भावगत मानते हैं। हम किसी वस्तु को बाह्य रूप में देखकर ही उस पर मुग्ध हो उठते हैं तो वह उस वस्तु का वस्तुगत सौन्दर्य है, और यदि उसके गुणों से प्रभावित होते हैं तो उसके आत्मगत सौन्दर्य से प्रभावित होते हैं। और यही आत्मगत सौन्दर्य भावगत सौन्दर्य में परिणत हो जाता है। वस्तुतः सौन्दर्य की पूर्णता अन्तर्जगत् और बाह्य जगत्, वस्तुगत और एवं मनोरञ्जन और के में ही निहित है।

साहित्यकार अथवा कथाकार जीवंत अनुभूति तथा सौन्दर्य-भावना के भावानयन के लिए विभिन्न काव्य-घटकों का सहारा ग्रहण करता है। विषयवस्तु तथा रूपाकार उसकी भावना एवं कल्पना के उपादान होते हैं। शब्द और अर्थ, आवयविक एकता तथा कल्पना सौन्दर्य की खोज में प्रवृत्त हो जाते हैं। सत्य, शिव और सुन्दर की स्थापना होने लगती है।

अतः कथा-साहित्य में सौन्दर्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि कथाकार सौन्दर्य की अनुभूति को ग्रहण कर, उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप तथा प्रभाव व्यक्त करता है। सौन्दर्य-भावना के घटक तत्त्वों की संगति बिठाता है। उसकी रचनाओं में सौन्दर्य-भोग, रूप तथा अभिव्यक्ति का भी समन्वय होता है। किसी भी रचना में अभिव्यक्ति जितनी गम्भीर और आध्यात्मिक स्वरूप की होती है, उतनी ही उसमें सौन्दर्य-भावना की उच्चता के दर्शन होते हैं, आदि सभी तथ्यों की खोज कथा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त कथा-साहित्य में सौन्दर्य-भावना के निम्न मानदण्ड हो सकते हैं—

सौन्दर्य में सत्य एवं शिव का समावेश होता है। सत्य जब तक समष्टि में अन्तर्भूत न हो, तब तक उसमें सौन्दर्य का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य में सत्य और अनुभूति का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। सत्य में सौन्दर्य का प्रतिफलन होता है। वास्तव में ये दोनों एक ही स्थिति के दो पार्श्व हैं। जीवन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय से आनन्द की प्राप्ति और इन चित्तवृत्तियों की खोज ही मानव-जीवन की पूर्णता है। आनन्द की साधना ही सौन्दर्यापेक्षी है। आनन्द की प्राप्ति 'सुन्दरम्' की साधना का लक्ष्य है। भाव का विकास भी चित्त के विकास से सम्बद्ध है और चित्त का विकास ऐन्द्रिय चेतना के विकास से—अतः मूल रूप से सौन्दर्य-बोध इन्द्रिय-बोध के स्तर पर आ जाता है—इसके लिए इन्द्रिय-शिक्षा की आवश्यकता है। सौन्दर्य की ऐन्द्रिय चेतना के विकास के सहजतम साधन एवं हिन्दी कथा-साहित्य में इन्द्रिय-जगत् की समृद्धि द्रष्टव्य है।

सौन्दर्य-भावना के निकष हैं—ऐक्य, समानुपात, संतुलन, व्यवस्था, पूर्णता, सुरुचि, आह्लाद, निस्संगता, आध्यात्मीकरण—इन सबके सामंजस्य से जीवन में सौन्दर्य-भावना के वे स्रोत प्रवाहित होते हैं जो अनुभूति से समन्वित उन्मुक्त उल्लास की धारा को लेकर चलते हैं—सौन्दर्य ही अरूप बन कर रस बन जाता है।

कलाकार अपनी निपुणता से जीवन में सुरुचि, सुरुचि से मोहकता और मोहकता से सौन्दर्य तक पहुँचता है। निष्कर्षतः अनुभावन, अनुचिन्तन, उद्भासन इन तीनों से समन्वित ऐन्द्रिय संवेदना पर सौन्दर्य की सारी प्रक्रिया निर्भर रहती है। वास्तव में मस्तिष्क की रचनात्मक प्रतिभा सौन्दर्य-बोध के लिए आवश्यक है। सौन्दर्य का मूल उद्देश्य अर्थात् वांछनीय रूप का सृजन भी सत्य के साथ एकाकार हो जाना है—सौन्दर्य से उत्पन्न जगत् में चेतना के मार्ग का विकास, मूर्त से अमूर्त, स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से परोक्ष, मर्त्य से अमर्त्य की ओर ले जाना सौन्दर्य-भावना का लक्ष्य है। विश्व-जीवन और विश्व-व्यक्ति तक पहुँचना उसकी अन्तिम परिणति है।

प्रत्येक राष्ट्र की पृथक्-पृथक् चिन्तन-पद्धति होती है। पाश्चात्य और भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन में भिन्नता है। भारतीय सौन्दर्य-धारणा असत् से सत् की ओर अग्रसर है। भारत की आँखें मात्र बाह्य रूपरेखा का सौन्दर्य न देखकर आन्तरिक सौन्दर्य देखती हैं। अतः अभिव्यंजना ही यहाँ की परोक्षगामी दृष्टि को अभीष्ट है—अन्तर्ज्योति देखना यहाँ का इष्ट है। भारत का सौन्दर्य दर्शन तत्त्वपरायण और अमूर्त है जिसमें दर्शन, मूल्यादर्श सांस्कृतिक पारम्परिकता, परात्म परता, प्रकृति के से विश्व स्पंदन म आदि विशेषताओं का समावेश है पाश्चात्य

कला में क्षण और सामयिकता पर आग्रह तथा व्यक्ति, घटनाओं के स्थूल और बाह्य पर बल दिया जाता है। भारत में 'टाइप' पर बल अन्तश्चैतन्य-खोजी अन्तर्दृष्टि द्रष्टव्य है।

सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान के सहारे भी कलात्मक सृजन, कलात्मक आशंसा की प्रक्रियाओं के साथ-साथ विभिन्न बिम्बों, संवेगात्मक प्रभावों एवं प्रतीकात्मक अर्थों पर भी प्रकाश डालता है।

हिन्दी कथा साहित्य पर काफी मात्रा में शोधकार्य हो चुका है और अभी हो रहा है, किन्तु कथा-साहित्य में सौन्दर्य-भावना वाला पक्ष अभी अछूता है। इस अछूते पक्ष पर शोधकार्य करके कथा-साहित्य में अभिव्यक्त सौन्दर्य-भावना का अनुशीलन एवं विश्लेषण करना स्वतः ही शोध-विषय की नवीनता का परिचायक होगा, क्योंकि अंग्रेजी उपन्यासकार ई० एम० फार्स्टर का कहना है कि—"किसी भी रचना में ऐतिहासिक जलूस अपने सामने से गुजर जाने पर कोई दर्पण नया नहीं हो जाता। उसमें नई चमक तभी आती है जब उस पर पारे की नई परत चढ़ाई जाती है। यह परत है—साहित्यकार की भावना—सौन्दर्य-भावना। अस्तु।

संदर्भ-संकेत

१. डब्ल्यू० एच० हड्सन, ऐन इण्ट्रोडक्टिव टु दि इंगलिश लिटरेचर, पृ० १०।

२. त्रिभुवन सिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० २१।

३. कुमायूँ विश्वविद्यालय में 'प्रेमचन्द के उपन्यासों में सौन्दर्य-भावना' पर कार्यरत एक शोधार्थी के विषय को 'शोध उपाधि समिति' के कुछ विद्वान् आचार्यों ने इस टिप्पणी के साथ विषय को रद्द कर दिया कि गद्य या कथा-साहित्य में सौन्दर्य-भावना की शोध संभव नहीं है।

४. डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका', पृ० १।

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'चिन्तामणि'—भाग एक, १९६३, पृ० १६४-६५।

६. डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा : 'सौन्दर्यशास्त्र', पृ० १०।

७. हरिवंश सिंह : 'सौन्दर्य-विज्ञान', पृ० ५६-५७।

८. डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका', पृ० ३-४।

शोधछात्रा, हिन्दी,
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

हिन्दी की औपन्यासिक भूमिका में नारी

□

कु० अर्चना पाण्डेय
एवं
डॉ० रघुवंशमणि पाठक

नारी हमेशा से पुरुष के लिए आकर्षण का केन्द्र रही है क्योंकि पुरुष जहाँ उसके अंक में ही विवेक की आँखें खोलता है, वहीं नारी उसकी चिरसंगिनी एवं सहचरी बनकर अपने सरस प्रेम, स्नेहिल नारीत्व एवं त्यागमयी ममता के कोमल किन्तु दृढ़ पाश में उसे सदा आबद्ध रख अपने मादक सौन्दर्य की शीतल छाया में तुष्टि प्रदान करती है। इसीलिए कलाकारों—विशेषकर पुरुष कलाकारों (क्योंकि विश्व के सम्पूर्ण साहित्यकारों में संख्या की दृष्टि से नारी नगण्य है) द्वारा नारी को केन्द्र में रखकर अपनी अभिव्यक्ति को सँवारते देखा गया है जिससे उनकी कृतियों में नारी बहुत कुछ उनके मन के अनुकूल चित्रित होती रही है। किन्तु कलाकार या साहित्यकार समाज का सर्वाधिक सजग प्राणी भी होता है, इसलिए सामाजिक परिस्थितियों से वह अपने को सर्वथा पृथक् नहीं कर सकता। अतः युग-संदर्भ में परिवर्तन के साथ नारी एवं पुरुष के सामाजिक मूल्यों में हुए परिवर्तन को भी वह स्वीकार करता है और उसे अपनी कृतियों में चित्रित करता है। और यह समाज भी तो वस्तुतः नारी तथा पुरुष से मिलकर ही बनता है, इसलिए जहाँ तक उपन्यासकार का सवाल है, वह उसी सामाजिक वातावरण को अपने उपन्यास के पन्नों पर सजीव करने का प्रयत्न करता है। अतः उपन्यासों में पुरुष पात्रों के साथ नारियों का विविध रूपों में चित्रित हो जाना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि विश्व-साहित्य के अधिकांश उपन्यासकारों के लिए 'नारी-समस्या' एक मुख्य विषय रहा है और इसे उन्होंने दो सन्दर्भों—मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक—में प्रस्तुत किया है। यद्यपि हिन्दी उपन्यास की कहानी लगभग एक सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है, तथापि हिन्दी उपन्यासकारों ने भी अपनी नारी को उक्त दोनों ही सन्दर्भों में रखकर उसकी समस्याओं को उजागर किया है। हिन्दी उपन्यास की इस अल्पकालिक यात्रा में हिन्दी उपन्यासकारों ने नारी का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह उसके जीवन के घात-प्रतिघात की सम्पूर्ण कहानी व्यक्त कर देने का दस्तावेज है। यहाँ हिन्दी की औपन्यासिक यात्रा में नारी को देखने के लिए सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य को तीन वर्गों में रखना समीचीन होगा—(१) आरम्भिक काल (प्रेमचन्द के पूर्व) के उपन्यासों में नारी, (२) प्रेमचन्द के युग के उपन्यासों में नारी, (३) प्रेमचन्दोत्तर युग के उपन्यासों में नारी।

हिन्दी उपन्यासों का आविर्भाव-काल उपन्यास के क्षेत्र में हिन्दी के साहित्यकारों के लिए प्रयोग एवं अभ्यास का युग था। उक्त काल में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को लेकर तथा हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों को लक्ष्य कर सुधार की दृष्टि से उपन्यास लिखे गये, किन्तु नारी की परिवर्तित परिस्थितियों को चित्रित करने मे वे सर्वथा असमर्थ रहे। अपने आदर्श स्त्री-पात्रों मे उन्होंने धर्मग्रन्थों में वर्णित सभी गुणो के समावेश का प्रयास तो किया किन्तु उनकी रस-लोलुप दृष्टि 'मदन के उल्टे नगारे से पयोधर, मनोज की सीढ़ी-सी त्रिवली अमृत रस-कुण्ड

नाभि' तथा 'कनक-कदली सजघ' को निहारने में लगी रही। उनका सनातनी वैष्णव उपदेशक मन भले ही स्त्रियों के कुत्सित कर्म की मौखिक निन्दा करता हो, किन्तु उनका रसिक हृदय स्त्रियों के रूप-यौवन, हाव-भाव, प्रेम-क्रीड़ा तथा हास-विलास के खुले वर्णन में अधिक परितृप्ति मानता था। वस्तुतः उनकी चेतना तिलस्म, ऐयारी, रोचकता, आश्चर्य में डाल देने वाली सनसनी-दार घटनाओं एवं औत्सुक्यवर्द्धक हृदयकाण्डों के दुर्गम कान्तार में भटक गयी थी। इसलिए मानवीय स्वरूपों का स्वाभाविक वर्णन उनके लिए कठिन हो गया और उपन्यास उनके लिए मानवीय चरित्र का अध्ययन न बनकर केवल मनोरंजन का उपकरण बन गया। उदाहरण के लिए उक्त काल के प्रतिनिधि उपन्यासकार के रूप में किशोरीलाल गोस्वामी का नाम लिया जा सकता है जिनको विषय एवं शैलीगत विविधता की दृष्टि से तद्युगीन उपन्यासकारों में आलोचकों ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वस्तुतः गोस्वामी जी के चिन्तन का केन्द्र था 'प्रेम' और उनकी दृष्टि में उपन्यास था 'प्रेम का विज्ञान'। इसलिए उनकी बहुआयामी प्रेम की परिधि में नारियाँ साली-बहनोई के अवैध प्रेम-व्यापार में, विधवाओं के कुत्सित व्यभिचार में तथा वेश्याओं के कपटपूर्ण पापाचार में लिप्त दीखती हैं जिनके नग्न चित्रण में उपन्यासकार ने खूब रस लिया है। वास्तव में अनेक उपन्यास लिखकर गोस्वामी जी ने हिन्दी की बड़ी सराहनीय सेवा की है, किन्तु "कोई ऐसा उपन्यास लिखने में वे असमर्थ रहे जिसकी नायिका नारी की तत्कालीन परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों एवं उनके जीवन में होने वाली नवीनताओं को अपने में समेटे हुए हो।"[१] उक्त स्थिति भारतेन्दु-मण्डलों के उपन्यासकारों तक बनी रही और किंचित् परिवर्तन आया भी तो द्विवेदी-युगीन उपन्यासकारों में, जिनका ध्येय था नारी को उच्चासन प्रदान करना, श्रद्धा की दृष्टि से देखना। नारी की उच्छृङ्खलता, उनका पतित होना तथा अपने कर्तव्य से च्युत होना उन्हें सह्य नहीं था।[२] इसलिए जितनी भी नायिकाएँ उस युग में प्राप्त होती हैं, सभी का एक संतुलित रूप है, उनमें अपनी जीवनगत मर्यादाओं का त्याग करने की प्रवृत्ति नहीं है।"[३]

प्रेमचन्द-युग का उपन्यासकार भी नारी-जीवन-सम्बन्धी परम्परागत आदर्श भावना को छोड़ नहीं सका। उनके युग में "विवाह की पवित्रता एवं पत्नीत्व की मर्यादा पर सदैव ही आग्रह रहा है। यौन नैतिकता के बन्धन लेशमात्र भी शिथिल नहीं हुए। गृहलक्ष्मी का आदर्श पूर्ववत् बना रहा।"[४] इसीलिए तद्युगीन उपन्यासकारों की नारी पात्राएँ भी परम्परागत आदर्शों, जीवनगत मर्यादाओं एवं कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व की रज्जु में प्रायः वैसी ही बँधी दीखती हैं, जैसी द्विवेदीयुगीन नारी पात्राएँ। किन्तु आलोच्य युग वास्तविक अर्थों में मुक्ति-आन्दोलन का भी युग था। अतः उपन्यासकारों की दृष्टि युग-युग से प्रताड़ित एवं बन्धनग्रस्त नारी की स्थिति पर भी पड़ी। इसलिए वह पूर्वग्रह-ग्रसित संकीर्ण भावनाओं से किंचित् ऊपर उठकर तथा नारी को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित कर अत्यन्त सहानुभूति एवं संवेदनापूर्वक उसे सामाजिक यथार्थ के विश्वसनीय पट पर उरेहने का प्रयास किया। इसलिए प्रेमचन्द-युग की नारी अब स्वप्नलोक की परमसुन्दरी एवं असहाय प्रेमिका ही न रह सकी। धीरे-धीरे उसमें समस्याओं से जूझने का साहस भी दीखने लगा। 'कंकाल' की यमुना के ये शब्द नारी की सजगता के प्रमाण है—"जब मैं स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूँ, तो जैसे कट जाती हूँ, ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कोलाहल, स्त्री जाति की लज्जा की मेघमाला है। उनकी असहाय परिस्थिति का उपहास है।" इस प्रकार आलोच्य युग की नारी के मन में पुरुष-समाज के प्रति एक आक्रोश दीखता है और वह पुरुष की क्रूरता को फटकारती भी है, किन्तु परम्परागत जटिल बन्धन की जकड़ से वह इतनी शिथिल हो गयी है कि पुरुष की परतन्त्रता एवं दासता का

बेड़ी को झनझना कर तोड़ने का साहस उसमें अभी नहीं रखता। इसलिए वह आघात सहने की क्षमता' को ही अपना धर्म मान बैठी है। 'कंकाल' की यमुना अन्यत्र लतिका से कहती है, "कोई समाज और कोई धर्म स्त्रियों का नहीं है बहन! सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं। फिर भी मैं समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना।" प्रेमचन्द जी आलोच्य युग के प्रतिनिधि उपन्यासकार हैं और उनकी "सभी नारियाँ सती-साध्वी अबलाएँ हैं जो भारतीय स्त्री के आदर्शों से विभूषित हैं। 'वरदान' की विरजन, 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा, 'प्रेमाश्रम' की विद्यावती, 'निर्मला' की निर्मला, 'रंगभूमि' की इन्दु— सब अयोग्य पतियों को पाकर भी बड़ी श्रद्धा और तत्परता से उनकी सेवा करती हैं" और उनमें 'आघात सहने की अद्भुत क्षमता' भी है। 'वरदान' की माधवी से प्रेमचन्द जी बड़े गर्व के साथ कहलाते हैं—"मैं आर्य बाला हूँ। मैंने गंधारी और सावित्री के कुल में जन्म लिया है। जिसे एक बार मन से पति मान चुकी, उसे नहीं त्याग सकती। यदि मेरी आयु इसी तरह रोते-रोते कट जाय तो भी अपने पति की ओर से मुझे कुछ भी नहीं होगा।"[५] वस्तुतः प्रेमचन्द की नारी ने एक ऐसी ही छाया—विवाह की छाया को सिर पर धारण कर लिया है जो जीवन-पर्यन्त सिर से उठ न सकेगी। उसके लिए "कच्चे धागे का कंगन पवित्र धर्म की हथकड़ी है जो कभी अपने हाथ से न निकलेगी और मण्डप उस प्रेम और कृपा की छाया का स्मारक है जो जीवन-पर्यन्त सिर से न उठेगी।"[६] प्रेमचन्द ने स्वयं इन्द्रनाथ मदान को एक पत्र में लिखा था—"मेरी नारी का आदर्श है—एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केन्द्रित होना। त्याग बिना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असंतोष प्रकट किये हो, और पवित्रता सीजर की पत्नी की भाँति ऐसी होनी चाहिए जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।"[७] वास्तव में प्रेमचन्द जी ऐसी ही पवित्र प्रतिमाओं को गढ़ने में दत्तचित्त रहे जिसका प्रभाव तत्कालीन अन्य उपन्यासकारों पर भी पड़ा।

यद्यपि प्रेमचन्द एवं उनके समकालीन लेखक शुद्ध नारी की खोज में लगे रहे तथा उसके त्याग एवं बलिदान के गीत गाते रहे और अपनी इस परम्परावादी तथा 'पवित्रतावादी' दृष्टि के कारण आधुनिक नारी को सहानुभूति नहीं दे सके थे, तथापि 'नई नारी' का—एक दूसरे प्रकार की नारी का जन्म भी उनकी ही कृतियों में हो चुका था जो पुरुषों के साथ निःसंकोच भाव से मिलती-जुलती है, क्लब, सिनेमा, नाचघर एवं दावतों में सम्मिलित होती है, टेनिस और ब्रिज खेलती है तथा अपने मन से प्रेम और विवाह भी करती है। प्रेमचन्द के 'गोदान' (१९३६) की मालती तथा 'बिदा' (१९२८) की अनेक नारियों को इस वर्ग में रखा जा सकता है।

प्रेमचन्द-युग में पैदा हुई 'नई नारी' के स्वरूप में प्रेमचन्दोत्तर युग में अत्यधिक निखार आया। उक्त नई नारी के स्वरूप को सँवारने में जिन कलाकारों ने एक नूतन भूमिका निभायी, उनमें जैनेन्द्र से लेकर अज्ञेय तक के उपन्यासकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन लेखकों ने सामाजिक मर्यादाओं और नैतिकता के संकीर्ण घेरे को तोड़ने का साहस किया। इनमें से कुछ ने नारी के घर-बाहर की समस्याओं को साहस के साथ प्रस्तुत किया। उपर्युक्त उपन्यासकारों की नारियाँ शिक्षित हैं, इसलिए जागरूक हैं तथा सामाजिक रूढ़ियों एवं जटिल परम्पराओं के प्रति विद्रोहिणी भी हैं। ये सम्मानपूर्वक समाज में अपने अधिकारों के साथ जीना चाहती हैं चाहे वे किसी भी वर्ग की—उच्चवर्गीय, मध्यमवर्गीय, निम्नवर्गीय नारियाँ हों या दलित वेश्याएँ या निरीह विधवाएँ हों। यद्यपि उपर्युक्त लेखकों के चिन्तन में मूलभूत अन्तर भी है तथापि लेखकों को स्वतन्त्रता एवं कुछ निश्चित बिन्दुओं पर उनका समय एक जैसा है। उन्होंने मानव-मन की भूमिया के

अन्वेषण-विश्लेषण के द्वारा चेतना के बाह्य एवं आभ्यन्तर स्तरों के उद्घाटन का सफल प्रयास किया है। आलोच्य युग के प्रतिनिधि उपन्यासकारों की नारी-विषयक दृष्टि में अन्तर स्पष्ट करने के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत चित्रों पर पृथक्-पृथक् किंचित विचार कर लेना उचित होगा। प्रथमतः, जैनेन्द्र इनमें अपने ढंग के निराले हैं। उनकी नारी मूलतः पतिव्रता है, किन्तु उनकी पतिव्रता नारी परम्परागत नहीं है, आधुनिक है। 'श्रीकान्त' की पत्नी 'मृणाल' पति के आदेश से 'हरिप्रसन्न' के सामने पूर्णतया नग्न होकर उसे तृप्त करती है, फिर भी वह पावन है। वस्तुतः "जैनेन्द्र नारी-जीवन के प्रयोगी हैं और उनके एक प्रयोग के रूप में ही मृणाल को ले सकते हैं।"[७] अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की भाँति जैनेन्द्र ने भी नारी को घर से बाहर निकाल दिया है, किन्तु उसे कठोर जीवन बिताने के लिए मजबूर भी कर दिया है। "वह मछली की तरह एक जाल से निकल कर दूसरे जाल में फँस जाती है। समाज की परम्परागत मान्यताएँ उसके विकास में बाधा डालती हैं, नवीन मान्यताएँ समाज में स्थापित नहीं हो पाई है। इस तरह सक्रान्ति के इस काल में उसका जीवन दुःख की गाथा बनकर रह जाता है।"[८] यह भी सच है कि उन्होंने जिस "नारी का चित्रण किया है, वह भव्य है, पुरुष से अधिक मानसिक बल रखने वाली है, प्रेम तथा अन्य सद्भावनाओं की अधिष्ठात्री है, आत्मशक्ति में अग्रगण्य है—और यह सब होने के कारण बहुत कुछ अलौकिक और अस्वाभाविक भी है।"[१०]

इस युग के दूसरे ख्याति-प्राप्त उपन्यासकार हैं इलाचन्द्र जोशी, जिन्हें हिन्दी उपन्यास में मनोविश्लेषण-प्रणाली के प्रथम प्रयोक्ता के रूप में जाना जाता है। जोशी जी को परम्परागत संस्कारों में आबद्ध, सामन्ती दासता की पोषक, भावुकता की प्रतिमा बनी नारी पसन्द नहीं है। वे "अपनी नारी को भावी मानते हैं जो पुरुष के अहं का शिकार नहीं बनेगी।"[११] और इसी उद्देश्य को लेकर वे अपने उपन्यासों में नारी की रचना करते हैं। उनकी पात्राओं में मंजरी, शान्ति, प्रतिभा आदि पुरुष के अहंकार को चुनौती देती भी हैं। पारसनाथ के प्रति मंजरी, जो अपने परिश्रम एवं प्रयत्न से डाक्टर बन गयी है, के ये शब्द जोशी की नारी को प्रतिबिम्बित करने के लिए पर्याप्त हैं, "तुम उसी सनातन पुरुष समाज के नवीन प्रतिनिधि हो जिसने युगों से नारी को छल से ठगकर, बल से दबाकर, विनय से बहका कर और करुणा से लगाकर उसे हाड़-मास की बनी निर्जीव पुतली का रूप देने में कोई बात उठा नहीं रखी। पर याद रक्खो, विश्वव्यापी क्रान्ति के इस युग में आततायी और कामचारी पुरुष जाति की सत्ता अब निश्चित रूप में मूलतः ढहने को है और युगों से दलित नारी आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महा-बीज सुरक्षित रखे हुए थी, उसके विस्फोट को दबाने की समर्थता अब ब्रह्म में भी नहीं रह गयी।" किन्तु जैनेन्द्र और जोशी के बाद आधुनिक नारियों का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह परम्परा से भिन्न नये जीवन के शुरुआत की कहानी तो है ही, पाश्चात्य संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित है। स्वच्छन्द प्रेम इनके लिए नारी-स्वातन्त्र्य का मूल आधार है। पति और प्रेमी का इनके लिए भिन्न रूप और भिन्न आदर्श है। शादी इनके लिए आर्थिक समझौता मात्र है। 'घरौंदे' (१९४१) में रांगेय राघव ने ऐसी ही अभिजात्य वर्गीय नारियों के अन्तर्विरोध और दुहरे व्यक्तित्व का स्पष्ट चित्र खींचा है, "ये पार्टियों में इश्क लड़ाती हैं और सतीत्व का भयंकर पर्दा भी इन पर पड़ा रहता है।"[१२] लगता है, इन्हीं स्थितियों से पूर्ण प्रभावित होकर यशपाल जी ने और आगे की छलांग लगाई है। उनकी दृष्टि में "नारी वह रूमाल है जिससे जितने आदमी अपना मुँह पोंछ सके, पोंछ सकते हैं। उससे कालिख छूटेगा ही, लगेगा नहीं। स्त्री एक नहीं, अनेक पुरुषों के साथ रमण करने पर भी पवित्र रह सकती है यदि उसका मन पवित्र है।"[१३] और इनकी कृतियों

मे चित्रित नारियाँ हैं भी ऐसी ही, जो जर्जर मान्यताओं एवं थोथे आदर्शों पर गुरुहथौड़े से प्रहार करती हैं और संघर्ष से सदा जूझती हैं, पलायन करना नही जानती। उक्त काल के ही एक अन्य प्रयोगी 'अज्ञेय' की नारी "ज्ञान के तरु की तरह ऊर्ध्वमूल है जिसकी जड़ें आकाश में खोई फिरती हैं।"[१४] इसीलिए आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने पर भी वह बेसहारा बनकर भटकती रहती है, किन्तु हार नहीं मानती। भटकने से उसे शक्ति मिलती है। अज्ञेय की प्रमुख नारी पात्रा रेखा के ही शब्दों में "भटकने से ही शक्ति आती है डाक्टर भुवन! क्योंकि जब मिट्टी से बाँधने वाली जड़ें नहीं रहतीं, तब हवा पर उड़ते हुए जीवन के लिए कहीं न कहीं से साधन जुटाने पड़ते हैं।"[१५] इस प्रकार प्रेमचन्द एवं उनके पूर्व के उपन्यासकारों ने जहाँ नारी के स्वरूप एवं उसकी समस्याओं के चित्र से पाठकों के मन में परम्परागत आदर्श भावनाओं को जगाकर केवल उसके एक पक्ष का ही परिचय प्रस्तुत किया था, वहीं पर आलोच्य युग के उपन्यासकारों ने उसके अन्तर्मन की भावनाओं का मनोविश्लेषण कर नारी के सम्पूर्ण रहस्य को खोल दिया।

आधुनिक उपन्यासकारों में समाजवादी लेखकों का एक ऐसा भी वर्ग है जिन्होंने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सम्पन्न लोग नारी को भी वस्तु की भाँति खरीद लेते हैं। ऐसे अर्थ-पिशाचों के सामने नारी की कोमल भावनाओं, ममता एवं उसकी नैतिकता का कोई महत्त्व नही रह जाता। उक्त वर्ग के लेखकों ने प्रेम, यौन सम्बन्धों, समाज और उसकी व्यवस्था को नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। अतः उनके पात्रों में यौन संबन्धी दुर्बलताओं से घृणा नहीं, बल्कि सहानुभूति उत्पन्न होती है, किन्तु कतिपय आधुनिक उपन्यासकारों द्वारा प्रस्तुत आधुनिक नारियों मे अभिजातवर्गीय नारियों का एक ऐसा भी चित्र ('संघर्ष', 'अचल मेरा कोई', 'घरौंदे') प्राप्त होता है जिनकी फैशनेबुल आधुनिकता पर आश्चर्य होता है। इनके लिए प्रेम का कोई महत्त्व नहीं और विवाह सिर्फ आर्थिक समझौता है। अवसरवादिता इनके विद्रोह को कुण्ठित कर देती है और कुण्ठित व्यक्तित्व से युक्त उक्त नारियाँ आत्महत्या का सहारा लेती हैं। रूढ़िगत जटिल परम्पराओं को तोड़ना तो अच्छा लगता है, किन्तु आधुनिकता के मोह मे एकदम अन्धा बनकर गहरी खाई मे गिर पड़ना दुर्भाग्य की बात है। वस्तुतः "यह जड़ मांस पिंड न नारी है, न पुरुष। वह निषेधरूप तत्त्व ही नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वही नारीतत्त्व है।"[१६] किन्तु जब नारी आधुनिकता की चकाचौंध में तितली का पर धारण करके अपनी आँखों पर विलास की काली पट्टी भी बाँध ले तो वह स्वयं 'नारीतत्त्व' को दफना देगी। नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' की रंजना पाँच बार विवाह करती है, किन्तु कही भी उसे शान्ति नही मिल पाती। वह अनेक बार पत्नी बनने पर भी पत्नी न रह सकी। इसलिए कि नारीतत्त्व की महिमा को उसने पहचाना नही और न तो उसने उसकी रक्षा ही की। "अनेक व्यक्तियों के वासनामय प्रेम तथा प्रतारणाओं से अभिशप्त रंजना 'बान' जैसे विश्वप्रसिद्ध कलाकार को पाकर वरदान समझती है, किन्तु अपने रूप की अहंमन्यता में उसके प्रेम को ही नहीं ठुकराती, अपने पुत्र के वास्तविक स्नेहाधिकार को भी ठुकरा देती है।"[१७] 'रंजना' स्वयं अपनी दुर्गति का कारण है और अन्ततः नारी-जगत् के सामने वह एक गम्भीर प्रश्नचिह्न बनकर रह जाती है। ऐसी ही एक दूसरी नायिका है निर्मल वर्मा की 'रायना' (वे दिन—१९६४) जो आधुनिकता के रीतेपन एवं उबासी का शिकार है। "उसका जीवन धारा से कट चुका है। वह एक बार घर से बाहर आकर घर मे लौट नही सकती। वह प्रेम करने योग्य भी न रही। वह जगह जगह निरावरण होती है 'मैं' के साथ भी सोने के लिए

विवश है। इसका कारण यह है कि वह अधिक दिन अकेले नहीं रह सकती।"[१८] इस प्रकार आधुनिक उपन्यासों में नारी की उक्त असाधारण स्थिति के चित्रण द्वारा उसके दुर्भाग्य की कहानी प्रस्तुत की गयी है।

आज की नारी में परम्परागत रूढ़ियों एवं सामाजिक जटिल मर्यादाओं के प्रति असन्तोष एवं प्रगतिशीलता का नवोन्मेष स्वाभाविक है। नारी के प्रेम, विवाह एवं सेक्स की स्वतन्त्रता के प्रति उपन्यासकारों द्वारा की गयी वकालत को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु उन कठपुतलियों को कौन समझाये कि और भी दर्द है जमाने में मुहब्बत, विवाह एवं सेक्स के सिवा जिनके लिए विद्रोह अपेक्षित है तथा जुझारू संघर्ष की आवश्यकता है। प्रेमचन्दोत्तर युग के उपन्यासकारों ने अपनी सजग दृष्टि से स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को विशेष परिस्थितियों के प्रकाश मे उदारतापूर्वक देखने का प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि में काम प्रवृत्ति को एक अनिवार्य मानवीय सुख के रूप में ग्रहण किया गया है। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु यदि उपन्यासकार नग्न यौन विकृतियों का रस लेकर वर्णन करना अपना धर्म मान लेगा (क्योंकि कुछ उपन्यासों में ऐसी प्रवृत्ति है) तो निश्चित रूप से यौन अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी। वस्तुतः मानव विकृतियों के यथार्थ फोटो चित्रण से कला के उच्चतम आदर्श की अभिव्यक्ति संभव ही नहीं तथा यथार्थ के नाम पर केवल मानवीय दुर्बलताओं का रंगीन विवरण साहित्य की सिद्धि में सहायक भी नहीं हो सकता। अतः मानव एवं मानवता के सफल चितेरे से थोड़ी सजगता की अपेक्षा की जाती है।

सन्दर्भ-संकेत

१. सुरेश सिनहा—'हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना,' हिन्दुस्तानी भाग २५, अङ्क १-४ (१९६४), पृ० ८३। १-क. कु० अर्चना पाण्डेय · अज्ञेय के नारी पात्र, पृ० २०। २. सुरेश सिनहा, हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, भाग २५, अंक १-४ (१९६४), पृ० ३०। ३. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव—हिन्दी उपन्यास, पृ० ६८। ४. डॉ० गणेशन—हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृ० १९८। ५. प्रेमचन्द—वरदान, पृ० १५८। ६. प्रेमचन्द—वही, पृ० ३३। ७. डॉ० इन्द्रनाथ मदान—प्रेमचन्द : एक विवेचन, पृ० १५७। ८. रामरतन भटनागर—जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा, पृ० २०४-२०५। ९. डॉ० सुषमा धवन—हिन्दी उपन्यास, पृ० १९९। १०. डॉ० गणेशन—हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन, पृ० २०७। ११. इन्द्रनाथ मदान—आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० २८। १२. रांगेय राघव—घरौंदे, पृ० ६१। १३. डॉ० त्रिभुवन सिंह—हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० २४५। १४ अज्ञेय—नदी के द्वीप, पृ० ३२। १५. वही, पृ० ३२। १६. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ४०३। १७. डॉ० आशा वागड़ी—प्रेमचन्द : परवर्ती उपन्यास साहित्य में पारिवारिक जीवन, पृ० ४२५। १८. इन्द्रनाथ मदान—आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० १०३।

हिन्दी विभाग
सतीशचन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बलिया (उ० प्र०)

स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास : इतिहास की सामग्री और कल्पना की भूमिका

□

डॉ० प्रेमकुमार

उपन्यास के संसार में कल्पना की भूमिका उपेक्षणीय नहीं है। जगदीश गुप्त के अनुसार कोई भी उपन्यास चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक, कल्पना के द्वारा विविध मानवीय संवेदनाओं का विस्तार करके भावनाओं और विचारों के बीच एक नवीन सामंजस्य खोजने का प्रयत्न करता है और अपने सीमित रूप में जीवन के चिरन्तन सत्य को अधिक से अधिक अभिव्यक्त करने का लक्ष्य रखता है।[1] ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए कल्पना प्रायः वरदान सिद्ध होती है। जब इतिहास की गति समझ में नहीं आती, तब उपन्यासकार अनेक माध्यमों से इतिहास की गति को समझते हुए चीजों के माध्यम से स्वस्थ जीवन-मूल्यों की स्थापना करने की ओर प्रवृत्त होता है। इन माध्यमों में सर्वाधिक सफल उपयोगी और सशक्त कल्पना है। अरस्तू ने ठीक लिखा है कि कृतिकार प्रकृति को जैसी की तैसी नहीं, बल्कि उसकी कल्पना में उसका जो स्वरूप उपलब्ध होता है, उसे अभिव्यक्ति देता है।[2] अंग्रेजी विचारक ड्रायडन ने निरंकुश कल्पना से सावधान किया है। कल्पना-शक्ति पर बौद्धिक अंकुश की आवश्यकता बताते हुए उनका कहना है—'उसकी (कल्पना की) गर्दन में उसी प्रकार के भारी बोझ लटकाने की आवश्यकता है, जैसे हम भाग जाने वाले कुत्तों को रोकने लिए उनकी गर्दनों में लटकाते हैं। ऐसा न करने से कल्पना बुद्धि के आगे निकल भागती है।'[3] जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने में प्रायः ऐतिहासिक रचनाकार या तो काल्पनिक चरित्रों और घटनाओं का सृजन करता है या वास्तविक पात्रों पर अपने दृष्टिकोण को चस्पाँ कर देता है। कथ्य में जो अनुभव का अंश है, वह उसे ऐतिहासिक तथ्यों से अपने वर्तमान अनुभवों को जोड़कर हासिल होता है और जो दृष्टि है, वह कमो-बेश कल्पना का ही प्रसाद है।

ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने ऐतिहासिक सत्य का बड़ा सीमित उपयोग किया है। यशपाल की 'अमिता', चतुरसेन का 'सोमनाथ', रुद्र काशिकेय की 'बहती गंगा', आदि कृतियों में किसी एक ऐतिहासिक घटना और कुछ ऐतिहासिक पात्रों की सहायता ली गई है, मुख्य भूमिका कल्पना की रही है। जनश्रुतियों और किंवदंतियों का सहारा भी लिया गया है जिनमे सत्य का अंश न्यून और कल्पना का अधिक होता है। 'अमिता' के प्राक्कथन में यशपाल ने लिखा है—'दिव्या के कथानक की भाँति अमिता की कहानी भी इतिहास नहीं कल्पना ही है।' उपन्यास का केन्द्रीय पात्र अमिता विशुद्ध काल्पनिक है। लेकिन 'अमिता' में कल्पना का उपयोग इतिहास को काटने के लिए न होकर इससे तत्कालीन मूल्यों और सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का सही परिचय देने का काम लिया गया है। 'सोमनाथ' में ऐतिहासिकता से कल्पना का प्रसार कहीं अधिक है।[4] शास्त्री जी ने ऐतिहासिक तथ्यों की परवाह न करते हुए केवल इतना ही आवश्यक समझा है कि महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ा था। शास्त्री जी ने कल्पना का उपयोग कृति को मनोरंजक, रोचक और इतिहास रस से भरपूर बनाने के लिए किया है। महमूद को आततायी बनाने-दिखाने की अपेक्षा एक मानवीय और सहानुभूति का व्यक्तित्व बनाने दिखाने में उनकी उर्वर कल्पना का हाथ है। फतेह मुहम्मद की सृष्टि करके उन्होंने तत्कालीन रूढ़ हिन्दू मानसिकता की कमी

आलोचना करनी चाही है। सोमनाथ के आधार मे शास्त्री जी ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है कि—'सबसे प्रथम मेरा ध्यान हिन्दुओं के रूढ़िवाद, अज्ञान, धर्मान्धता, कट्टरता तथा जाति-भेद और आत्मकलह पर गया। मैंने स्वीकार किया कि इसी ने हिन्दुओं को दलित किया, पराजित किया। मैंने इसके प्रतिक्रियास्वरूप दासी-पुत्र देवा-देव स्वामी-फतेह मुहम्मद की सृष्टि की थी।'

'बहती गंगा' में ऐतिहासिक आधार और भी सूक्ष्म हैं। रुद्र काशिकेय ने जनसाधारण मे प्रचलित अंग्रेजों के अभ्युदय-काल मे घटित प्रेमकथाओं और वीरगाथाओं को जोड़कर इस उपन्यास का ढांचा खड़ा किया है। इस उपन्यास की चर्चा बहुत कम हुई है, वह भी इसके शिल्प की दृष्टि से। वास्तव म इतिहास रस का आस्वाद कराने के साथ-साथ फिरंगियों के प्रति जनाक्रोश, कुछ वीरों के प्रतिरोध और उन पर किये गये दमन और उत्पीड़न को उभारने मे यह कृति बहुत सफल है। 'एकदा नैमिषारण्ये' तत्कालीन इतिहास, भूगोल, संस्कृति, कला और समाज को एकसाथ समेटने वाली भारी-भरकम कृति है। यह संभव है कि कुछ समीक्षक इसे ऐतिहासिक उपन्यासों के वर्ग में रखने पर आपत्ति करें, लेकिन नागेश्वर और भृगुवत्स के पतन और पाटलिपुत्र पर समुद्रगुप्त के अधिकार की घटनाएँ इसकी ऐतिहासिकता की ओर संकेत करती है। इसमे इतिहास का ग्रहण सूक्ष्म और सांकेतिक रूप में ही हुआ है। स्थूल ब्योरों, राजनीतिक दुरभिसन्धियों को बहुत रस लेकर प्रस्तुत नहीं किया गया है। विवेकी राय के शब्दों मे—'नागरजी इतिहास को बहुत ठोंक-बजाकर उठाते हैं। उसे वे पहले पुराण रूप मे ढालते हैं और तब उस पर अपने सांस्कृतिक, धार्मिक आन्दोलन का रंग चढ़ाते हैं।'[५] इस उपन्यास में नागर जी की दृष्टि व्यापक परिवेश और तत्कालीन राष्ट्रीय अर्थबोध पर जमी हुई है। उन्होंने पुराणो की रचना को भारतीय राष्ट्रीयता के भाव से सीधे सम्बद्ध किया है।

'ताँबे के पैसे'[६] के उद्भाव में ऐतिहासिक उपन्यास के कथ्य की आधुनिकता पर जोर दिया गया है। राबर्ट सेवेल की कृति 'ए फारगाटन एम्पायर' को पढ़कर उपन्यासकार को लगता है कि विजयनगर साम्राज्य के विनाश में आधुनिक युगबोध को झकझोरने लायक एक कथ्य छिपा हुआ है। अतः ऐतिहासिक तथ्यों को घुलाकर न केवल उससे 'ताँबे के पैसे' उपन्यास की सृष्टि की है, अपितु एक साम्राज्य विशेष की त्रासदी को मानव की सम्पूर्ण प्रगति और मानसिकता के ऊपर वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप संभावित संकट का रूप दिया है। "उपमान के रूप में ताँबे के पैसे, जो भौतिक दृष्टि से विजयनगर के विनाश के उत्तरदायी थे—कितने ही वर्तमान उपमेयों की सृष्टि करते हैं और दिन-प्रतिदिन होते जाते नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कारों के भारतीय पूर्वज हैं।"[७] वैज्ञानिक आविष्कारों की भयंकरता के बोध के साथ इस उपन्यास के कथ्य में साम्राज्यवादी स्वार्थों और कुचक्रों तथा उनके चलते होने वाली हिंसा (युद्ध) के प्रति तीखी घृणा भी जुड़ी हुई है। 'पुनर्नवा'[८] का कथ्य इतिहास, लोककथा और संस्कृत वाङ्मय में से छाना गया है और ऐतिहासिक तथ्यों तथा सदर्भों के आधार पर लेखक ने चौथी शती में संभावित सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रसंगों की कल्पना कर ली है और उन्हें कथ्य का अभिन्न और अविच्छिन्न अंग बना लिया है। हलद्वीप नगरी में बसंतोत्सव, मंजुला-देवरात और देवरात-वृद्धगोप प्रकरण, मथुरा मे श्याम रूप का वृद्ध ब्राह्मण और वीरक से वार्तालाप, मल्ल-प्रतियोगिता, विदिशा-उज्जैयिनी से सम्बन्धित समस्त प्रसंग, सिद्ध बाबा के चमत्कार और वटेश्वर तीर्थ का घटनाक्रम आदि उपन्यासकार की कल्पना की देन हैं।[९] इन कल्पनाजनित प्रसंगों के आगे 'पुनर्नवा' का विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाक्रम नगण्य है। उपन्यासकार ने अपना अभिप्राय मुख्यत: काल्पनिक प्रसंग में ही व्यक्त किया है

'मृगनयनी' उपर्युक्त उपन्यासों से कुछ अलग-थलग पड़ती है क्योंकि इसमें ऐतिहासिकता का आग्रह अधिक स्पष्ट और प्रबल है। 'मृगनयनी' के परिचय में वर्माजी ने स्पष्ट किया है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ, अर्थात् तीस वर्षों के इतिहास पर यह कृति आधारित है। इस काल को राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का कराल काल और कठोर युग कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। अनेक स्रोतों से वर्माजी ने मानसिंह तोमर और गूजरी रानी के सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्र की हैं, फिर भी उन्हें जनश्रुतियों, किवदंतियों और कल्पना पर निर्भर होना पड़ा है। डॉ० त्रिभुवन सिंह का यह कथन सत्य है कि 'मृगनयनी' के भीतर उपन्यासकार की अपेक्षा वर्माजी का इतिहासकार रूप अधिक उभर कर आया है।[१०] लेकिन 'मृगनयनी' ऐतिहासिक तथ्यों का शुष्क और नीरस संकलन नहीं है, उसमें सरसता है जिसका श्रेय निश्चय ही वर्माजी की ललित और उर्वर कल्पना को जाता है। लाखी 'मृगनयनी' उपन्यास का प्राण है जबकि वह कल्पना की मूर्ति है। वह गूजरी रानी मृगनयनी को भी फीका कर देती है। उसकी शहादत एक ओर भारतीय नारी की वीरत्व-व्यंजक मूर्ति गढ़ती है, दूसरी ओर मरते समय अटल से कहे गए अन्तिम शब्द 'ब्याह कर लेना अपनी जात-पाँत में' —समूची सामाजिक व्यवस्था की रूढ़ियों के प्रति क्षोभ और आक्रोश जगाने में समर्थ है। बुंदेलखण्ड के तत्कालीन लोकजीवन के विश्वासों और मान्यताओं का दर्शन कराने में भी उपन्यासकार ने अनुमान और तथ्यमूलक कल्पना का सहयोग लिया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुशीलन से विदित होता है कि इनमें कल्पना का वायवी संसार न होकर उसका जीवन की वास्तविकता से जुड़ा हुआ रूप प्रस्तुत हुआ है। उपन्यासकारों को जो मुख्य बात कहनी है, वह प्रायः काल्पनिक पात्रों और काल्पनिक घटनाओं के जरिए ही कही गई है; कहीं प्रत्यक्ष और कहीं सांकेतिक रूप में। 'अमिता' में अमिता, 'ताँबे के पैसे'[१०]में इबतरशाह, 'सोमनाथ' में फतेह मुहम्मद और शोभना, 'मृगनयनी' में लाखी, 'पुनर्नवा' में चन्द्रमौलि और पुरगोभिल, 'बहती गंगा' में शर्माजी आदि पात्र काल्पनिक हैं और लेखकीय वैचारिकता को मूर्त रूप देते हैं। इन कृतियों में एक महत्वपूर्ण बात यह देखने में आती है कि अधिकतर उपन्यासों में ऐतिहासिकता नाममात्र की है और कथ्य को गढ़ने और संवेद्य बनाने का सारा दारोमदार कल्पना पर छोड़ दिया गया है। 'मृगनयनी' में अवश्य ऐतिहासिकता की रक्षा का भाव है। यह भी उल्लेखनीय है कि कल्पना का उपयोग वासनाकुल और उत्तेजक प्रसंगों को उभारने और उनमें रस लेने के लिए नहीं हुआ है। राहुलजी और चतुरसेन शास्त्री की स्वतन्त्रता-पूर्व लिखी कृतियों में कल्पना का ऐसा दुरुपयोग बहुत मिलता है।

संदर्भ-संकेत

१. आलोचना (उपन्यास विशेषांक), अक्टूबर, १९५४। २. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : डॉ० अरविन्द पाण्डेय, पृ० १९। ३. अंग्रेजी उपन्यास का विकास और उसकी रचना-पद्धति, पृ० ११६ के आधार पर। ४. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास : डॉ० रामनारायण सिंह मधुर, पृ० १२। ५. कल्पना : जनवरी, १९७२, पृ० १२-१३। ६. ले० आनन्दप्रकाश जैन। ७. ताँबे के पैसे : उद्भाव, पृ० ८। ८. ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी। ९. पुनर्नवा : चेतना और शिल्प, रामनारायण, पृ० २१। १०. उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० १४८।

अशोक भवन,
मानसिंह गेट
अलीगढ़

आज की कहानियों में युवा दृश्य

श्री कमलाप्रसाद चौरसिया

युवा पीढ़ी राष्ट्र के लिए, समाज के लिए समान रूप से चिन्ता का विषय रही है। एक ओर तो उसमें साहस और शक्ति का उमड़ता सैलाब है, तो दूसरी ओर कुछ कर गुजरने की, कुछ बन बैठने की उदात्त महत्त्वाकांक्षायें अन्तर्निहित हैं। समस्या उनकी शक्ति और साहस के सही उपयोग की है, उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को शब्द देने की है। इस दिशा मे प्रयत्न दोनों ओर से हुए हैं। युवा-पीढ़ी ने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, शक्ति और साहस को व्यक्त करने के लिए स्वयं सम्भावनाओं की तलाश की, तो राष्ट्र ने उन सम्भावनाओं के विकास के लिए चिन्ता की।

दोनों तरफ के प्रयत्नों के बावजूद युवा-पीढ़ी में कुण्ठा बढ़ी है। आक्रोश बढ़ा है। हताशा बढ़ी है। इसके लिये युवाओं की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति ने सदैव निर्णायक भूमिका अदा की है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शिक्षा ने उसे एक सम्मान-जनक उद्योग अथवा जीविका की ओर उन्मुख किया है। पसीनागारी अथवा तथाकथित जीविकार्जन माध्यमों की ओर से उसे वितृष्ण किया है। परिणामस्वरूप जहाँ उसे बेकारी का सामना करना पड़ा है, वहीं उसे अपनी उपाधिदायिनी शिक्षा से अरुचि हुई है। यह सब उसके मनोभावों और क्रिया-कलापों और आचरण मे अभिव्यक्त हुआ है।

कहानीकार का प्रेरणा-स्रोत सामाजिक वास्तव होता है। समसामयिक सन्दर्भों की स्थिति और विवेचना कहानियों में अनिवार्यतः हो जाती है। कोई भी रचनाकार समाज में प्रवहमान वैचारिक तरंगों से अप्रभावित नहीं रह सकता। समाज की चिन्ता उसकी अपनी चिन्ता रही है। वह इनसे पीड़ित और उन्मथित रहा है। फलत: सामाजिक स्थिति-परिस्थितियों को अभिव्यक्ति अनायास ही मिल जाती है। रचनाकार वस्तुस्थितियों से अमर्षित होता है। उसका यह अमर्ष उसके विमर्श के साथ कहानियों में व्यक्त होता है। परिणामस्वरूप वस्तुस्थिति के अंकन में तटस्थता होती है तो विमर्श में कथाकार की निजी विचारधारा समस्या के समाधान के रूप में सामने आती है। बहुधा यह विचारधारा प्रतिबद्ध लेखकों की रचनाओं में व्यक्त होती है। तटस्थ कथाकारो मे यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। पाठक स्वयं-निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र होता है। कथाकार उसे सोच के लिए सामग्री मात्र प्रदान करता है।

चन्द्रप्रकाश पाण्डेय की कहानी 'वस्तुस्थिति' में राजन अपने बेटे जगन को देहात न छोड़ने की सलाह देता है। 'उसी मिट्टी को जोतें-बोयें। कुछ न कुछ मिलता ही रहेगा। यह सुझाव जगन की समझ में नहीं आता और वह शहर आ जाता है। पिता-पुत्र दोनों साथ रहने लगते हैं। जगन को पिता का रहन-सहन, खान-पान पसंद नहीं आता।'

'जिस तरह तुम रहना चाहते हो, उस तरह रहकर हम गाँव कुछ भी नही भेज सकते। यह शहर है भैया, काट-कपटकर ही चला जा सकता है। यहाँ रुपया हाथ आते ही हथेलियों में छेद हो जाते हैं। पिता के इस सुझाव को जगन ने गम्भीरता से लिया. 'फिर भी आवश्यक जरूरतों को तो पूरा होना ही चाहिये' सोचकर नौकरी की तलाश में निकलता है

काफी दौड़-धूप के बाद एक स्कूल में चपरासी की जगह तीन महीने के लिए मिलती है। मन ने धिक्कारा, यह चाकरी करनी थी तो इण्टर की पढ़ाई क्यों की? धीरे-धीरे अपने अहं, सम्मान, स्वाभिमान सबको बोटी-बोटी कर बँटता देखता रहा और जब बिल्कुल अस्तित्वहीन हो जाने वाली मनःस्थिति मे पहुँच गया, तब स्वीकार कर लिया, '" ठीक है, फिलहाल।' मुहल्ले के लोगों को बता रखा था कि एक दफ्तर में बाबू हो गया है।

नौकरी की तलाश में निकला जगन 'व्यवस्था को उलटने के आरोप मे गिरफ्तार' कर लिया जाता है। पाँच सौ रुपये की रिश्वत देने पर छूटता है।

स्पष्ट है कि युवा को न सिर्फ असम्मानजनक स्थितियों से समझौता करना पड़ रहा है, बल्कि पाशविक स्थितियों से निरन्तर गुजरना पड़ रहा है।

नौकरी तलाशते कुण्ठित युवा की एक-दूसरे ही कोण और परिवेश में लिखी गई धीरेन्द्र अस्थाना की कहानी है 'बीच का आदमी।' अपने माता-पिता और भाई-बहन की आशाओं-आकांक्षाओं को पूरा करने की साध दिल में सँजोये जब वह पढ़ाई समाप्त कर नौकरी की तलाश में जुटता है तो उसे दफ्तरों के चक्कर काटते-काटते अपने पैरों के लुंज होने का अंदेशा होने लगता है। कॉल-लैटर का इन्तजार करते-करते आँखें दर्द से तड़पने लगती हैं। 'तुम अपना प्रमाण-पत्र उलट-पलटकर देखते हो—कहीं तुम्हें बेवकूफ तो नही बनाया गया है। तुम अपने भीतर जोर से चीखते हो—अगर इस कागज के टुकड़े से कुछ भी नही हो सकता था तो तुम लगातार चौदह बरस तक इसे हासिल करने में पैसा और समय क्यों बरबाद करते रहे? तुम्हें इस सवाल का कोई माकूल जवाब नहीं मिलता और तुम्हारा इण्टर पास भाई गहरी उपेक्षा और गुस्से के साथ तुम्हे देखता हुआ एक प्रेस में कम्पोजिंग सीखने लगता है।'

'तुम्हारा इन्तजार करने वालों की लिस्ट मे से तुम्हारी प्रेमिका का नाम साफ हो जाता है। ···तुम्हारे पिता रिटायर हो जाते है। तुम्हारा दसवीं पास भाई एक साबुन की फैक्टरी में सौ रुपया माहवार पर अपना श्रम बेचने लगता है।···माँ की आँखों का इन्तजार धूमिल पड़ जाता है। तुम्हारे भीतर सुस्त अँधेरा उतरता महसूस होता है और आत्महत्या कर लेने की तुम्हारी इच्छा बलवती होने लगती है।

बेकारी मे रमा-बसा युवा 'गैर-मतलब बातों में दिलचस्पी लेने लगता है। उसे अफसोस होता है कि वह अपने परिवार के लिए नाकारा हो गया है और उसने अपने लोगों से गलत वायदे किये हैं। लाइब्रेरी की किताबें उसे अर्थवाम् लगने लगती हैं। रूस और चीन की याद आती है। वह क्रान्ति की जरूरत महसूस करने लगता है और उसके लाख चाहने के बावजूद कुछ नहीं होता और वह उदास हो जाता है—इस मुल्क में कुछ नही हो सकता। यहाँ के लोगों को गरीबी और भुखमरी की आदत है।'

युवा पीढ़ी की मनीषा अपने उपयोगी होने को सिद्ध करने में असमर्थ है। वस्तुतः उसे अवसर नहीं मिल पा रहे हैं। व्यर्थ विहार करने और कल्पना में जीने के लिये विवश है। यह ठीक है कि मध्यवर्ग का युवा बड़ा आदमी बनने की चाह मे है, किन्तु उसका ऐसा सोचना गलत नहीं है। यह भावना उसे समाज और शिक्षा दोनों से प्राप्त हुई है।

मनोज श्रीवास्तव की कहानी 'जलावतन' में पिता-पुत्र के बीच गहरी अनबन घर कर लेती है।

आखिर तुम चाहते क्या हो? उसका पिता उससे कहता है 'तुमसे छोटे चार भाई हैं। मेरी पेंशन तो ?

,मैं बहुत आगे बढ़ना चाहता हूँ। मेरी महत्वाकांक्षायें···।'

'हाँ-हाँ हम भी अपने समय में कम महत्वाकांक्षी नहीं थे। लेकिन मजबूरियाँ सब कुछ···।' उसका पिता हथेलियाँ मलते हुए रुक जाता है। '···तुम्हारी उम्र अभी उन्नीस साल से ज्यादा नहीं है। बचपनें की बातें मत करो।···इस स्साले का दिमाग खराब हो गया है। प्रोफेसर का बाप बनेगा मेरा खून-पसीना चाटकर ··।'

उसे घर की एक-एक चीज से नफरत होने लगती है। 'घर वाले सबके सब दुश्मन हैं। दीवारों पर भुतने हँसते हैं। भाई किताबों को रोते रहते है।···रोज यह सोच के घर से चलता हूँ कि अब यहाँ नहीं आऊँगा, लेकिन सब रास्ते हेर-फेर कर यहीं वापस आते हैं।······निकम्मे! बुजदिल! बगावत क्यों नहीं करता! सारे रिश्तों को तोड़-फोड़कर पैरों के नीचे कुचल क्यों नहीं देता? लेकिन बहिन की भीगी आँखों का क्या होगा, जिसके लरजते आंसू मन के अग्निकुण्ड को और भड़का देते हैं।'

कहानियों की विकास-यात्रा से स्पष्ट भाषित होता है कि युवा न सिर्फ आक्रोश से भरा हुआ है, अपितु वह संघर्षोन्मुख भी हो रहा है। गहन संत्रास की स्थिति से गुजरने के बाद भी वह हारा नहीं है। उसकी संघर्ष-चेतना बरकरार है और वह युयुत्सु हो उठा है। बदलती परिस्थितियों और नई सामाजिक प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए वह अपनी युयुत्सा को अधिक तर्कसंगत और कारगर बनाने की सोच रहा है। इसके लिए उसने सिलसिलेवार सामाजिक चरित्रों का अध्ययन कर व्यूह-रचना प्रारम्भ की है। वह अनाचार और उत्पीड़न को केवल वैयक्तिक सन्दर्भों में ही नहीं देखता, उसे पूरे समाज की चेतना के आलोक मे देखता है।

कादम्बिनी के कहानी-पुरस्कार अंक में कहानी है 'कुत्ता'। बस टिकिट प्राप्त न कर पाने के कारण वह जोरो से चालू हो जाता है। उसके पढ़े-लिखे होने और बड़बोलेपन का असर ड्राइवर पर पड़ता है। वह उसे न सिर्फ टिकिट, अपितु खचाखच भरी बस में सीट मुहैया कराता है। उसे स्वयं तो सुविधा मिल जाती है, किन्तु बूढ़े-यात्री, जिन्होंने उसे अपनी टेक बना लिया था, यात्रा से वंचित हो जाते हैं। वह इस असहायता को ग्लानि के रूप में ग्रहण करता है और स्वयं को 'कुत्ता' संज्ञापित करता है। कहानीकार ने कहानी के समापन-अवतरण मे न सिर्फ युवा चरित्र को परिभाषित किया है, वरन् कहानी के माध्यम से समाज के एक वर्ग की सम्पूर्ण चरित्र-सृष्टि का आकलन किया है।

हृदयेश की कहानी 'नये अभिमन्यु' में युवा चरित्र की सही समझ और सही भूमिका को शब्द दिये गये हैं। मास्टर बजरंग प्रसाद चूते हुए घर में रहने के विवश हैं। मकान-मालिक ने मकान खाली कराने के उद्देश्य से अच्छे कमरे में अपना ताला डाल दिया, ताकि बरसात से तंग आकर मास्टर बजरग प्रसाद मकान छोड़ दें। मास्टर बजरंग प्रसाद सीमेण्ट से दरजें भरते, पर घर का चूना जारी रहता। 'मोरि सुधारिहि सो सब भांती। जासु कृपा नहि कृपा अघाती' जैसी भावना का घर पर कोई असर नही हुआ।

'मकान-मालिक दूसरों के दबाव से ताला खोल दे, इसके लिए वह स्कूल के मैनेजर के पास कई बार दौड़कर गये थे जो खुद एक बड़ा दुकानदार था। कई और असरदार आदमियों के पास भी गये थे। फिर हार कर एक बूढ़े वकील के पास गये थे। उसने कहा था, 'लिखा-पढ़ी आपके पास है नहीं। अदालत में यह साबित करना होगा कि वह कमरा भी आपकी किरायेदारी में था।' जब कुछ हो न सकेगा तब वह यह मानकर खामोश हो गये थे किन्तु जब उनका बेटा कानपुर

से आया। रात को पानी बरसा। पानी उसके सिर पर टपका। वह सोते-सोते उठ बैठा। उसके साथ ही बजरंग प्रसाद और उनकी पत्नी भी उठ बैठे थे। जब मास्टर बजरंग प्रसाद सोच रहे थे—'क्या ऐसी भी दरजें हैं जो दिखायी नहीं देतीं, पर पानी के लिए रास्ता बना लेती है। अकिंचन के भाग्य के अदृश्य लेख और उनसे आने वाली विपत्तियों की तरह', तब लड़के ने खाट छोड़ दी थी। वह सामने वाले कमरे की ओर चला गया। 'एक गुम्मा उठाकर उसने ताले पर प्रहार किया। एक चोट से ही वह जंग लगा ताला किसी मरे हुए जीव की तरह मुँह फैलाकर अलग हो गया। मोमबत्ती की रोशनी में लडके ने कमरे के अन्दर रखे हुए चार-पाँच खाली डिब्बों और पेटियों को एक कोने में समेट दिया और बंद खिड़कियाँ खोल दीं। वह बजरंग प्रसाद और अपनी माँ को कमरे में ले लाया। कुछ देर बाद वे तीनों गहरी नींद में सो गये। बाहर पानी गिरता रहा।'

वस्तुतः युवा पीढ़ी उत्पीड़कों के नैतिक चरित्र का अच्छी तरह अध्ययन कर रही है। निष्कर्षों के अनुसार वह प्रतिरोध भी कर रहा है और प्रयोग भी कर रहा है। आज की कहानियों मे युवा-पीढ़ी की चिन्ता अधिक व्यक्त हुई है, उसे मार्गदर्शन कम ही प्राप्त हुआ है। वस्तुतः आज उसमे कुण्ठा और बेचारगी अधिक है। मध्यवर्गीय युवा सीमित साधनों और असीमित दायित्वों के बोझ-तले असहाय-सा अनुभव कर रहा है। वह राह खोज रहा है। उसे राह मिल रही है—कहानियों से ऐसी आश्वस्ति प्राप्त होती है।

●

४६-बी/७८, बांधवगढ़ कालोनी,
पो० आ०—बिरला-विकास,
सतना (म० प्र०) ४८५-००५

जुलूस : कथाभूमि एवं शिल्प

डॉ० जनार्दन उपाध्याय

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार स्व० फणीश्वरनाथ रेणु के कृतित्व में सर्वाधिक चर्चा 'मैला आँचल' की ही हुई है। इसका कारण यह है कि यह उनका प्रथम उपन्यास था और कथाशिल्प के क्षेत्र में आंचलिकता-सम्बन्धी नवीन और क्रान्तिकारी घोषणा के साथ सामने आया था। शिल्प का यह वैशिष्ट्य काफी कुछ 'परती परिकथा' में भी था, इसलिए इसकी भी चर्चा कम नहीं हुई है। किन्तु, उनके बाद के उपन्यासों में 'तीसरी कसम' को छोड़कर शेष की चर्चा बहुत कम हुई। 'तीसरी कसम' की अधिक चर्चा उस पर फिल्म बनने के कारण हुई। इस उपन्यास के पूर्व और 'परती परिकथा' के पश्चात् रेणु के दो उपन्यास सामने आये। 'दीर्घतपा' सन् १६६३ में और 'जुलूस' सन् १६६५ में। सम्भव है आकार-प्रकार में छोटे और रेणु के कथाशिल्प की मूल तासीर को उतनी विपुल मात्रा में न आत्मसात् किए रहने के कारण इस पर लोगों का ध्यान कम गया हो। उन्हीं दोनों अल्पचर्चित उपन्यासों में से एक 'जुलूस' पर सर्वाङ्गीण दृष्टि डालना यहाँ अभीष्ट है।

'जुलूस' की विशेषता उसे रेणु के कृतित्व में देखने से उतनी न उभरेगी जितनी उसकी निजता के स्वतन्त्र निरीक्षण से उभरेगी। यह उपन्यास प्रान्तीय भावभेद की स्वाभाविकता और एक स्थान पर रहने के कारण उसके स्वाभाविक तिरोभाव को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखा गया है। उपन्यास का आरम्भ बिहार प्रान्त के पूर्णिया जिले के गोड़ियर गाँव के पास बंगाली शरणार्थियों के लिए बसायी गयी नवीनगर कालोनी के एक पेड़ की डाल पर बैठी हुई 'हल्दी चिरैया' की चर्चा से होता है। इसे ही 'हल्देपाखी' भी कहा गया है। कु० पवित्रा चटर्जी जिसे इस उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र या कि उपन्यास की नायिका कह सकते हैं, उन बंगाली शरणार्थियों में से एक है जो नवीनगर कालोनी में बसाये गये हैं। वह कुलीन, शिक्षित और सुन्दर है तथा अन्य सभी शरणार्थियों के स्नेह और विश्वास की अधिकारिणी होने के कारण कालोनी मेम्बर भी है। वह भावुक, चिन्तनशील एवं सहृदय है तथा स्वभावतः इस नये स्थान की वस्तुओं को अपने मूलस्थान की वस्तुओं के साम्य-सादृश्य से देखती है। गोड़ियर क्षेत्र की हर वस्तु में उसे अपने मूल-निवास स्थान की कोई न कोई वस्तु ही नामान्तरित रूप में मिलती है, केवल यह पक्षी (हल्दी चिरैया) ही ऐसी है जो उसके अपने देश में नहीं होती और उसके लिए नई है। उसने इस क्षेत्र के निवासियों से इस पक्षी के नाम व वैशिष्ट्य के बारे में पूछा है और जब कोई कुछ सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका, तो उसने स्वयं ही इसे 'हल्दी चिरैया' या 'हल्देपाखी' नाम दे दिया है। हल्दी चिरैया कभी-कभी कालोनी के किसी वृक्ष की डाल पर आ बैठती है और थोड़ी-थोड़ी देर पर कुछ खिंची हुई आवाज में बोलती है। उसके इस बोलने में पवित्रा को सुनाई पड़ता है—का कस्य परिवेदना।

इस उपन्यास की मूल चेतना के सन्दर्भ में 'हल्दी चिरैया' की प्रतीकात्मकता को बाद में स्पष्ट करेंगे। पहले इसकी संक्षिप्त कथा की चर्चा आवश्यक है भारत-पाक विभाजन के परिणामस्वरूप

पाकिस्तान अलग देश बना और उसके दो हिस्से बने—पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान। पूर्वी पाकिस्तान के अन्तर्गत आने वाला समस्त क्षेत्र प्राचीन बंग प्रदेश का ही अंग था। यही अब स्वतन्त्र होकर बाँगला देश बन गया है। बंगप्रदेश के निवासियों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। पाकिस्तान के अन्तर्गत आ जाने के कारण वहाँ कट्टर इस्लामी और हिन्दुओं के प्रति घृणा का वातावरण बनने लगा। बहुसंख्यक होने के कारण मुसलमानों की शक्ति अधिक थी। उन्होंने हिन्दुओं पर हमले किये और आपत्ति के मारे बचे-खुचे लोगों ने पूर्वी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आकर शरण ली। इन्हीं घटनाओं के परिणामस्वरूप बंगप्रदेश के मैमनसिंघ जिले के जुमापुर गाँव के बहुत से हिन्दू यातना-ग्रस्त होकर शरणार्थी बने और बिहार के बेतिया नामक स्थान पर पहुँचे। भारत की ओर से शरणार्थियों को राहत देने और सुरक्षित क्षेत्रों में बसाने का निरन्तर प्रयास चल रहा था। जुमापुर से आये हुए शरणार्थियों में कु० पवित्रा चटर्जी (जिसे उपन्यास में बार-बार पोबी दी और दीदी ठाकरुन नाम से भी सम्बोधित किया गया है), कालाचाँद घोष और उसकी माँ, हरलाल साहा और उसका परिवार, छिदामदास, गोपाल पाइन, योगेशदास तथा राखाल विश्वास और उनका परिवार, शारदा वर्मन, विश्टू आदि हैं।

नवीनगर कालोनी में बसे हुए शरणार्थियों में से ७५ प्रतिशत तो जुमापुर के ही हैं। कालोनी के आसपास चतुर्दिक् और विशेष रूप से गोड़ियर गाँव में बिहार के निवासी पुश्तैनी रूप से बसे हुए हैं। वे सभी बिहारी, बंगालियों के रहन-सहन और कामकाज को संशय और विस्मय की दृष्टि से देखते हैं। खास करके पवित्रा चटर्जी अपने आकर्षक स्वरूप, सामाजिक सेवा-भावना और शान्त स्वभाव के कारण बिहारियों के बीच अधिक चर्चा का विषय बनती है। उसके केश बहुत लम्बे हैं, उसे देखकर वहाँ के बिहारियों की जबान पर बंगाल की औरतों के बारे में एक प्रचलित उक्ति बार-बार आ जाती है—बाजा-छाजा केश—तीन बाँगला देश। तालेवर गोढ़ी गोड़ियर गाँव का सबसे सम्पन्न और प्रमुख आदमी है। वह परम्परा से सूखी मछली (सुगंठी) का व्यापार करता रहा है और धीरे-धीरे उसने बहुत-सा पैसा जोड़ लिया है। अकाल के दिनों में पैसा बड़े ब्याज पर उठाकर उसने गाँव की लक्ष्मी और भी अपने घर में ही केन्द्रित कर ली है। पण्डित रामचन्द्र चौधरी की लगभग सारी सम्पत्ति उसने धीरे-धीरे हथिया ली है। तालेवर गोढी तंत्र एवं साधना का पाखण्ड भी करता है और भैरवी की पूजा के नाम पर गाँव के नौजवानों को लोभ-लालच देकर उनकी सहायता से किसी न किसी सवर्ण औरत को पकड़वा कर मँगाता है और दुराचार करता है। उसका विरोध करने की हिम्मत किसी में नहीं है। इधर कुछ दिनों से न जाने क्यों उस पर से साधना का भूत उतरा हुआ है। वह कुछ बूढ़ा हो चला है और उसके हाथ सदा सुमिरनी पर रहते हैं।

बंगाली बस्ती नवीनगर कालोनी में शाम को नित्य बंगला कीर्तन चलता है जो कालोनी के लोग मिल-जुल कर चलाते हैं। पवित्रा उसकी मुख्य कार्यकर्त्री है। बिहारी बस्ती के कुछ निठल्ले नौजवान किसी न किसी बहाने से नवीनगर कालोनी के आसपास मँडराना शुरू करते हैं और इस बात की चेष्टा में रहते हैं कि कालोनी में घुसकर बंगाली लोगों से हेलमेल बढ़ाकर उनके बारे में जानकारी की जाये। इस प्रकार का प्रयास जयसिंह, रब्बी पासवान और कारेमण्डल करते हैं। सबसे पहले सफलता जयसिंह को मिलती है। उसका यों भैंस खोजने के बहाने से आना बंगालियों को संदिग्ध लगता है। बंगाली लोग उसे पकड़ लेते हैं, किन्तु पवित्रा आकर छुड़ा देती है। वह पवित्रा के अप्रतिम रूप को देखकर चमत्कृत हो जाता है और आकर अपने मालिक तालेवर गोढ़ी से उसके बारे में बताता है। तालेवर का मन इन दिनों चल रही सात्विकता से

विचलित हो जाता है। काली-मन्दिर की स्थापना का मुहूर्त जानने की अभिलाषा से तालेवर गोढ़ी का नौकर जयसिंह पवित्रा के पास पहुँचता है और प्रसंगवशात् चर्चा करता है कि उसके मालिक (तालेवर गोढ़ी) तीर्थाटन पर जाने वाले हैं। पवित्रा अब कालोनी में खुलने वाले नये स्कूल के सम्बन्ध में सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ ही समय पश्चात् तालेवर गोढ़ी के द्वार पर पहुँचती है तो देखने वालों को लगता है कि तालेवर का मन्त्र काम कर गया। तालेवर अपने द्वार पर पवित्रा के आगमन से बहुत प्रसन्न होता है। वह विद्यालय के सम्बन्ध में पवित्रा की सारी बातों का स्वागत करता है और उसी समय शाम को पक्के भोज की घोषणा कर देता है जिसमें कालोनी के सारे लोग और गोढ़ियर गाँव के सभी निवासी आमन्त्रित किये जाते हैं। पवित्रा, सन्ध्या के सहयोग से भोज में पुलाव बनाती है। भोज कालोनी में ही सम्पन्न होता है और इस भोज के बहाने बंगालियों और बिहारी लोगों की समीपता का मार्ग प्रशस्त होता है। यद्यपि तालेवर पवित्रा के प्रति पहले पवित्र विचार नहीं रखता था, पर उसी अवसर पर एक बार पवित्रा के द्वारा 'ताले काका' रूप में सम्बोधित होने पर अपनी भावना बदल देता है।

नवीननगर कालोनी में बसे बंगाली इस स्थान में घुलमिल नहीं पाते। उन्हें अपने मूलदेश की स्मृति पीड़ित करती है। पवित्रा एक दिन कालोनी के पार्श्ववर्ती परिवेश में सबके जुमापुर जैसा दृश्य दिखाती है और प्रयास करती है कि लोग इसे अपना देश मान लें। नवीननगर कालोनी को वहाँ के बंगालियों के अतिरिक्त अधिकतर लोग 'पाकिस्तानी टोला' के नाम से पुकारते हैं जिस पर कालोनी वालों को और खास करके गोपाल पाइन को बड़ी खीझ होती है। पवित्रा खुले विचारों की होने के कारण गोढ़ियर गाँव के लोगों से कोई दूरी बनाये रखना नहीं चाहती, किन्तु अन्य बंगाली लोग पवित्रा की इस उदारता से सहमत नहीं हैं। पवित्रा के ही कारण पड़ोस के सुक्की-बेलाही नामक गाँव का हरिप्रसाद यादव कीर्तन में आने-जाने लगता है और धीरे-धीरे उसका स्नेह-सम्बन्ध योगेशदास की कुमारी कन्या सन्ध्या से हो जाता है। जयसिंह भी ठाकुर चबूतरे पर होने वाले कीर्तन में भाग लेने लगता है और कभी-कभी बंगाली कीर्तन के बाद हिन्दी कीर्तन भी वहाँ होने लगता है। कालोनी में गैर-बंगालियों के उन्मुक्त प्रवेश की स्थितियाँ जैसे-जैसे बढ़ती हैं, बंगालियों का पवित्रा के प्रति क्षोभ बढ़ता जाता है। इसी बीच डिस्ट्रिक्ट कालोनी कमेटी की मीटिंग होती है और वहाँ पवित्रा के बारे में कई शिकायती पत्र सामने रखे जाते हैं। सभी सदस्य पवित्रा को वितृष्णा की दृष्टि से देखते हैं। वह व्यथित होकर नरेश वर्मा के साथ धाँगड़ टोली चली जाती हैं और इधर कालोनी में उसके बारे में बुरी अफवाहें पहुँचा दी जाती हैं। गोढ़ियर गाँव का तालेवर गोढ़ी जब तीर्थ से लौटकर आता है तो उसके कुछ समय पश्चात् हरिप्रसाद यादव भी आता है और योगेशदास की कन्या को उसके माता-पिता के साथ ले जाने का उपक्रम करता है। पवित्रा यद्यपि इससे दुखी है, फिर भी वह तालेवर गोढ़ी को इसका विरोध करने से रोक देती है। हरिप्रसाद यादव से सन्ध्या के विवाह, नरेश वर्मा से पवित्रा की आत्मीयता, हरलाल साहा की पिटाई आदि घटनाएँ पवित्रा के प्रति कालोनी का क्षोभ बहुत बढ़ा देती हैं। सब उससे अन्यमनस्क हो जाते हैं और वह भी कालोनी की मेम्बरशिप्प छोड़ देने को कटिबद्ध हो जाती है। उदासी और व्यथा के इन क्षणों में पवित्रा को शैशवावस्था से लेकर अब तक के अपने दुर्भाग्य की स्मृतियाँ कुरेदती हैं। वह सोचती है कि कैसे उसकी माँ ने उसे अपने वात्सल्य-भाव से सदैव वंचित रखा, कैसे उसकी माँ ने वात्सल्य व्यक्त करते उसके पिता को कलंकित किया, कैसे उसके पिता को धोखा देकर मुसलमान जमींदार कादिर के पुत्र कासिम ने उसके परिवार पर हमला किया और उसके होने वाले पति विनोद मुखर्जी का सर काट डाला, कैसे बेतिया कैम्प

के पुलिस अधिकारियों ने उसे कासिम की आँखों से घूर-घूरकर देखा और कैसे वह उस कालोनी निवासियों की घृणा का पात्र बन गई जिनके लिए उसने सारा जीवन समर्पित कर दिया। इतना सब होते हुए भी पवित्रा प्रकृति और संस्कारगत प्रतिबद्धता के कारण उपेक्षित होकर भी लोकसेवा से विरत नहीं हो पाती। नरेश वर्मा से उसका प्रेम है, पर वह स्वयं को अभागिन मानकर उनसे शादी करके उनका अनिष्ट नहीं करना चाहती। गोड़ियर सहित आसपास के दस गाँवों में एक दिन प्रलयकारी वृष्टि होती है। बहुत से लोग मरते हैं, बेघर-बार लोग चीख रहे हैं। लोगों की पीड़ा से पवित्रा का दिल पसीज उठता है। वह सारी अन्यमनस्कता को एक झटके में तोड़कर फिर स्वयं को लोकसेवा में अर्पित करने का निश्चय करती है और नरेश वर्मा, मोतिया तथा तालेवर गोड़ी आदि की सहायता ले-लेकर पीड़ितों की सेवा में जुट जाती है। यहीं कथा का अन्त हो जाता है।

'जुलूस' का कथानक बहुत कुछ सीधा-सादा ही कहा जा सकता है, किन्तु इसमें उद्देश्य की गम्भीरता है। दो क्षेत्रों के लोगों के मध्य पाये जाने वाले भेद-भाव की सहज रूप से उत्पन्न भावात्मक एकता में उपन्यासकार रेणु ने बड़ी सफलता से पर्यवसित किया है। जीवन में ऐसा होना उचित भी है और स्वाभाविक भी। इसलिए प्रस्तुत उपन्यास के कथानक में ऐसी योजना प्रशंसनीय भी मानी जायेगी और यथार्थमूलक भी। उपन्यास के वस्तु-विधान पर आमतौर जो टिप्पणियाँ हुई हैं, उसमें कहा गया है कि हिन्दी के इन भाव-संकेतों के साथ इस विषय-भूमि पर आधारित कथाकृतियाँ बहुत विरल हैं। देश का विभाजन और त्रस्त पाकिस्तानी हिन्दुओं का शरणार्थियों के रूप में आगमन ऐतिहासिक सत्य है जिसके आधार पर कथाकार ने इस कथा-वृत्त की कल्पना की है। दो प्रान्तों या क्षेत्रों (बंगाल और बिहार) की मानसिकता, रहन-सहन तथा लोक-संस्कृति को आमने-सामने प्रस्तुत करके उनमें स्वाभाविक मेल-मिलाप दिखाना ही कथाकार को अभीष्ट है। कदाचित् दोनों प्रान्तों के इक्के-दुक्के पात्रों के माध्यम से यह कार्य इतनी अच्छी तरह से सम्पन्न न होता, इसलिए कथाकार ने दोनों प्रान्तों का एक पूरा-पूरा समाज ही सृजित किया है। ये दोनों समाज गोड़ियर गाँव में ही पुश्तैनी बिहारी लोगों और शरणार्थी बंगाली लोगों के रूप में हैं। पहले दोनों में पर्याप्त दूरी है। दोनों वर्गों के अधिकतर लोग एक-दूसरे वर्ग के लोगों को सन्देह और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। दोनों वर्गों का एक-एक मुख्य अभीष्ट भावात्मक ऐक्य का विशेष निमित्त बनता है। बंगाली वर्ग से पवित्रा चटर्जी और बिहारी वर्ग से तालेवर गोढ़ी इस कार्य में आगे आते हैं। आरम्भ में बंगाली लोग बिहार में शरण पाकर भी उस देश को हर बंगलाभाषी को 'अपना देश का मानुस' समझकर अतिरिक्त प्रसन्न होता है और बंगला न बोल सकने वाले को पराया समझता है। इन लोगों की मानसिकता में देश की परिभाषा बहुत संकुचित है। गोड़ियर गाँव के मूल निवासी भी वैचारिक संकोच से ग्रस्त हैं। वे भी बंगाली कालोनी में घुसना और उसके बारे में जानना तो चाहते हैं, पर उस कालोनी के नये नाम को भी खुलकर स्वीकार नहीं कर पाते और इसीलिए बार-बार उसके लिये 'पाकिस्तानी टोला' नाम का प्रयोग करते हैं। उपन्यास की ये मुख्य घटनाएं जिनके परिणामस्वरूप दोनों वर्गों के मेल-मिलाप का मार्ग प्रशस्त हुआ, अधिकतर पवित्रा चटर्जी अथवा तालेवर गोढ़ी की प्रेरणा से घटती हैं। पवित्रा ठाकुर चबूतरे के कीर्तन में गैर-बंगालियों को भी शामिल कर लेती है, कालोनी के नये स्कूल में गोड़ियर गाँव के बच्चों को भी पढ़ने की सुविधा देना चाहती है और तालेवर गोढ़ी खासतौर से कालोनी वालों के लिए कालोनी में ही भोज का आयोजन करता है और हृदय-परिवर्तन के पश्चात् पवित्रा को बेटी की तरह स्नेहभाव से मानता है। नरेश वर्मा की चर्चा के

बहाने कथाकार ने पविला के दुःखद अतीत की स्मृतियों को सामने रखा है। सन्ध्या और हरि प्रसाद यादव की शादी के द्वारा दोनों वर्गों मे नाते-रिश्ते आरम्भ होते हैं और उपन्यास के अन्त में प्रलयंकारी वृष्टि के द्वारा विपत्ति में पारस्परिक भेदभाव के विसर्जन की यथार्थता का संकेत हैं तथा पविला की उदारता को उदारता और सेवा-भावना को उदासीनता से निकाल कर नये निखार के साथ प्रस्तुत किया गया है। हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास की वस्तु-योजना आडम्बरों से मुक्त सहज, सार्थक और प्रभावकारी है। इतनी सीधी-सादी और लघुकाय वस्तु-योजना इतने गम्भीर उद्देश्य को जिस सफलता से चरितार्थ करती है, वह स्वतः ही इस बात का द्योतक है कि वस्तु-विधान बड़ी सूझबूझ से किया गया है। छोटी-छोटी कुछ अन्य कथाएँ जैसे पण्डित रामचन्द्र चौधरी की कथा, सरस्वती प्रसाद को कथा, रामजयसिंह की कथा, पहलवान और उनकी पुत्रवधूओं की कथा, रब्बी फरगन्न तथा कारेमण्डल की कथा आदि परिवेश-चित्रण के लिए हैं जो कहीं-कहीं बंगाली लोगों के परिवेश के लिए काण्ट्रास्ट का काम करती हैं और परिवेश-वर्णन में पर्याप्त सार्थक सिद्ध हुई है।

इस उपन्यास में चित्रित परिवेश के पीछे कथाकार की उस कला का प्रभाव लक्षित होता है जिसके कारण वह आंचलिकता के अंकन के लिए हिन्दी कथा-जगत् में उल्लेखनीय बन गया है। इसमें यद्यपि आंचलिकता के कुछ नये प्रयोग भी दिखायी पड़ते है, फिर भी इस उपन्यास को शत-प्रतिशत आंचलिक कहने में कुछ कठिनाइयाँ है। इस पूरे उपन्यास में 'मैला आँचल' की तरह एक अंचल को उसकी सफलता के साथ नहीं चित्रित किया गया है, अपितु दो अंचलों को उनके समस्त उल्लेखनीय रूपों के साथ आमने-सामने उपस्थित किया गया है। एक तरफ गोढ़ियर गाँव का रहन-सहन, भाषा-बोली और लोक-जीवन चित्रित है और दूसरी तरह उमापुर बंगाल से आये हुए लोगों के रहन-सहन और प्रकृति को उभारा गया है। कहना चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि इसमें टकराव और मेल के द्वारा दो आंचलिक स्थितियों का समागम चित्रित है। भूत प्रेत, भैरव-भवानी और तन्त्र-मन्त्र की घटनाओं का भी समावेश इस उपन्यास मे किया गया है, यह रिवाज बंगाल में भी काफी है और बिहार में भी। बिहार के वे लोग जो इस उपन्यास में आये हैं, प्रायः पिछड़े वर्ग के हैं और उनमें कथाकार ने विवशता या निर्धनता के कारण सहज रूप से पाये जाने वाले विकृत रोमांस की ओर संकेत किया है। इस प्रसंग में तालेवर गोढ़ी और उसकी भैरवियों की, रामजय सिंह और सरस्वती देवी की कथा का उल्लेख किया जा सकता है। बिहारी वर्ग में सुगठी का व्यापार और बंगाली वर्ग में मछली-भात का सर्वप्रिय खानपान भी दोनों की पहचान के रूप में उपन्यास में उभारा गया है। दोनों क्षेत्रों का लोकसंगीत भी इस उपन्यास मे आ गया है। बंगाल की कीर्तनियाँ और बिहार का बिहुला नाच बीच-बीच में कई बार चर्चित है। बंगाली कीर्तन बिहारियों के लिए उत्सुकता का आलम्बन बनता है और बिहुला नाच का बाला-लखिन्दर बंगालियो के लिए विस्मय-मिश्रित आनन्द उपस्थित करता है। प्रसंगवशात् बिहार का धांगड़ लोकनृत्य भी इसमें आ गया है जिसमें मोतियों की अनुरक्तता देखकर पविला भी अभिभूत होती है और शामिल हो जाती है। उपन्यास के प्रमुख पात्र तालेवर गोढ़ी को मूलगेनी का अनुभवी कलाकार बताया गया है। जहाँ तक लोकनृत्य और लोकसंगीत की बात है, उपन्यासकार रेणु बिहार के रीति-रिवाजों को बहुत अधिक मनोयोग से उभारते है। किसी दूसरे क्षेत्र के विशिष्ट एवं शिक्षित पात्र को इसके माध्यम से विस्मित एवं चकित करके उसका प्रभाव जमाना उनकी खास विशेषता है। 'मैला-आँचल' में डॉ० प्रशान्त को प्रभावित होते चित्रित किया गया है और 'जुलूस' में पविला घटवों को। एक विवाह भोज की योजना 'मैला आँचल' में भी है और 'जुलूस' में

भी। दोनों ही उपन्यासों में पूर्णिया जिले का भूभाग कथा का आधार बनता है। ये कुछ विन्दु हैं जो एक को पढ़ने से दूसरे की याद ताजा करते हैं। 'मैला आँचल' का मेरीगंज एक कस्बा है, जबकि जुलूस का गोड़ियल एक गाँव। मैला आँचल में बंगाल का एक ही प्रमुख पात्र है—डॉ॰ प्रशान्त, किन्तु जुलूस में पूरा बंगाली समाज है और रेणु को इस छोटे से उपन्यास में भी बंगाली समाज को योजित करने के कारण बंगाली लोक-जीवन के कण्ट्रास्ट में बिहार के आंचलिक परिवेश को उभारने का पूरा अवसर मिला हुआ है। सबसे बड़ा वैषम्य तो यह है कि दोनों के कथाफलक में विशालता और लघुता का बहुत बड़ा अन्तर है। जुलूस सोलह आने आंचलिक तो नहीं है, पर उसमें आंचलिकता की मौलिक योजनाएँ अवश्य हैं। कथाकार की भाषा कथाशिल्प के विवेचन में एक महत्वपूर्ण अंग भी है और आंचलिकता का एक सबल आधार भी। प्रस्तुत उपन्यास में भाषा के मुख्यत: चार रूप हैं। पहला तो वह है जिसमें सरल खड़ीबोली का प्रयोग है। कथाकार जब किसी घटना, वस्तु या व्यक्ति के बारे में स्वयं ठहरकर कुछ बताता है तो इस भाषारूप का प्रयोग करता है जैसे बंगाली कालोनी के ठाकुरतले की साँझ की गतिविधियों के बारे में कथाकार की सीधी-सादी भाषा में कही गई ये पंक्तियाँ देखें—'साँझ में ठाकुरतला नामक झोपड़े में सभी स्त्री-पुरुष जमा होते है और कीर्तन गाते हैं। कीर्तन के बाद गाँव की समस्याओं पर बातें होती हैं। सब औरतें उठकर अपने-अपने घरों में चली जाती हैं, सिर्फ पवित्रा रहती है।' इस भाषा मे कथाकार की रुचि अपेक्षाकृत कम ही है। ऐसी सीधी-सपाट भाषा के बीच में सूत्रात्मक, ठेठ या तीव्रता को व्यंजित करने वाले शब्दो या वाक्यांशों के टुकड़े मिला-मिलाकर प्रयोग करना रेणु को अधिक प्रिय है, जैसे—'खुट्टी खरैइहा में एकसाथ चार डाइनों को नगा नचाया था—तालेवर गोढ़ी ने। मरे हुए लडकों को जिलाने के बाद चार डाइनों का 'गुण' खीचकर अपनी चुनौटी में रख लिया था। मशाल की हड्डी जिसके घर मे गाड़ दे, उसके घर मे ऐसा 'बनरभूता' लग जाता था कि एक ही साल में सब हहाकर साफ।' भाषा का दूसरा रूप वह है जो छोटे-छोटे संवादों में है। यह रूप कृत्रिमता से बहुत दूर है और सहज है तथा घटना को पर्याप्त गति देने वाला है। रामचन्द्र चौधरी और जयराम सिह के वार्तालाप में भाषा का यह रूप देखें—

—किधर जयराम।
—जरा पतरा में देखकर एक उचारिरू तो, आज से शनिवार तक।
—कैसा दिन।
—कोई नया काम शुरू करने का।
—कौन-सा नया काम हो रहा है?
—काली मन्दिर की नीव देने के लिए।

भाषा का तीसरा रूप भी भाषा के उक्त दूसरे रूप में ही कही-कहीं मिलता है। यह वह है, जहाँ बंगलाभाषी हिन्दी भाषा में बोलने की कोशिश करता है अथवा हिन्दीभाषी बंगला में बोलने की कोशिश करता है। गोपाल पाइन और रब्बी तथा कारे के बीच एक प्रश्नोत्तर में इसका उदाहरण प्रस्तुत है—

—के ?
—हम लोग भैंस खोज रहे हैं मोइस, मोइस बंगाली मोसाय।
—भैंस, भौंस तो इधर में काहे वास्ते ?

भाषा का चौथा रूप वह है जिसके अन्तर्गत बंगदेशी पात्रों द्वारा संवादों के बीच-बीच मे बंगला भाषा के वाक्यों का प्रयोग किया गया है जैसे—कोथाय। सालार बेटा साला-कादिरेर बेटा कासिम तार साला जालिम......आमि हांगर-स्ट्राइक कोर्बो।

इस उपन्यास की भाषा में दोनों अंचलों की बोली का पुट है। गोपाल पाइन 'नवीगनर' को 'नोबीनगर कहता है और को कोमफाता बिहार के पूर्णिया क्षेत्र की आंचलिक बोली का पुट रब्बी और कारे मण्डल के मुँह से बिहुला नाच के सवादो में दर्शनीय है

— अरे की देखैछी आइ-माइ दुलहाकेमन लागे ।
– दूल्हा के देखैछी दीदी माने की-की जोग ।

रेणु जी भाषा के जीवन्त प्रयोगों में सिद्धहस्त हैं । भाषा के द्वारा परिवेश और चरित्र, दोनों को पूरी शक्ति और सामर्थ्य से खड़ा करना उनके लिए बहुत सरल कार्य है । भाषा में मुहावरे, लोकोक्तियाँ भी यत्रतत्र हैं । जुलूस की भाषा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि रेणु जी बिहार और बंगाल की बोली में अच्छी गति रखते हैं ।

अन्त में इस उपन्यास में सृजित प्रतीकों एवं चरित्रों की भी चर्चा कर ली जाय । इस कथा-कृति में दो विशिष्ट कोटि की प्रतीक योजनाएँ हैं । प्रथम प्रतीक है हल्दी चिरैया या हल्देपाखी की योजना और द्वितीय प्रतीक है नवीनगर कालोनी में जुमापुर के रूप-स्वरूप का दर्शन । पहला प्रतीक व्यक्ति-चरित्र को प्रतिबिम्बित करता है और दूसरा सामाजिक चरित्र को । मेरा दृढ़ विश्वास है कि हल्दी चिरैया कु० पवित्रा चटर्जी की प्रतीक है । उसके बोलने में 'का कस्य परिवेदना', अर्थात् 'किसकी क्या पीड़ा है' की जो ध्वनि आती है, वह पवित्रा के चरित्र की विशेषता है । उसने अपना सारा जीवन दुखियों को पीड़ा से मुक्त करने में लगाया है और लोकहित के इस यज्ञ में अपना व्यक्तिगत सुख होम कर दिया है । अविश्वास और कलंक सहकर भी वह लोकसेवा के पथ पर अविचल है । आदि से अन्त तक तीन-चार बार हल्दी चिरैया का बोलना वस्तुतः सम्पूर्ण उपन्यास में पवित्रा के निर्मल चरित्र की अनुगूँज है । दूसरे प्रतीक का सृजन भी उसी की प्रेरणा पर आधारित है । वह इस बात से दुःखी है कि जुमापुर से आये हुए बंगाली आदि अपनी मानसिक संकीर्णता के कारण गोड़ियर और नवीनगर को मन से अपना नहीं पा रहे हैं, इसीलिए वह एक दिन सूर्यास्त के समय सभी कालोनी-वासियों को कालोनी के परिवेश में अपनी मातृभूमि जुमापुर का दर्शन कराती है । इस योजना से बंगाली समाज को क्षेत्रीय भेदभाव से मुक्ति पाने में सहायता मिलती है । पवित्रा के औदार्य और तालेवर गोढ़ी के सहयोग से बिहारी समाज को मानसिक संकीर्णता से ऊपर उठने का अवसर मिलता है । तालेवर गोढ़ी का हृदय-परिवर्तन भी इस उपन्यास के चरित्र-विधान में एक उल्लेखनीय घटना है । इस कथाकृति में व्यक्ति-चरित्र के सहारे परिवेश को चित्रित किया गया और सामाजिक चरित्र को उठाया गया है । बंगाल के विनोद मुखर्जी जैसा व्यक्तित्व बिहार के नरेश वर्मा में भी दिखाकर कथाकार ने भावात्मक ऐक्य की कड़ी जोड़ी है । शेष सभी पात्रों का चरित्र प्रायः यथार्थता, सहजता और स्वाभाविकता पर खड़ा किया गया है । न्यूनाधिक मात्रा में सबका अवसरानुरूप उपयोग भी किया गया है । इस उपन्यास में दो बातें कुछ खटकने वाली हैं, पहली तो यह कि कथाकार पंडित रामचन्द्र चौधरी और उनके परिवार को पात्र-समूह में जितना विस्तार से ग्रहण करता है, उससे लगता है कि अंत तक कथाकार उन्हें किसी विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटना से जोड़ने वाला है, किन्तु ऐसा हुआ नहीं । दूसरी बात उपन्यास के नामकरण के बारे में है । उपन्यास के नाम से सहसा लगता है कि यह किसी उग्र राजनैतिक अथवा सामाजिक चेतना पर आधारित उपन्यास होगा । राजनैतिक परिवेश तो इस उपन्यास में नगण्य ही है, हाँ एक विशिष्ट सामाजिक मूल की रक्षा के लिए इसका कथानक आदि से अंत तक कार्यरत अवश्य दिखायी देता है । उपन्यास में दो-तीन बार जुलूस की हल्की-सी चर्चा है, पर वह जुलूस न तो उस उद्देश्य के संवर्द्धन में है और न उसमें कोई ऐसी तीव्रता या उग्रता ही है कि जो पाठक के मन पर अमिट छाप छोड़ जाय । इसलिए इस उपन्यास का यह नाम उतना समीचीन नहीं प्रतीत होता । रेणु के इस लघुकाय उपन्यास में सहज गम्भीरता है और यह उनके कथाशिल्प के विकास में संतुलित प्रयोगधर्मिता और परिष्कार का सूचक है ।

हिन्दी विभाग
का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय फैजाबाद

नए प्रकाशन

पुस्तक का नाम—रास्ता काटती बिल्ली
लेखक—श्री देवीप्रसाद वर्मा
प्रकाशक—साहित्यवाणी, इलाहाबाद-६
मूल्य—रु० २०/-

देवीप्रसाद वर्मा छठे दशक के शुरू में एक ख्यातनामा गीतकार के रूप में जाने जाते थे। उस समय वे 'बच्चू जाँजगीरी' के रूप में प्रसिद्ध थे। उमाकान्त मालवीय जिस तरह उत्तर प्रदेश मे गीतकार के रूप में ख्याति अर्जित कर रहे थे, उसी तरह जाँजगीरी भी अपने गीतों के द्वारा मध्यप्रदेश में कीर्तिकौमुदी फैला रहे थे। उमाकान्त मालवीय अंत तक अपने को गीतों में ही व्यक्त करते रहे। किन्तु जाँजगीरी ने वकालत का जो पेशा अपनाया, उसने उन्हें इतनी वयस्कता दी कि वे बच्चू जाँजगीरी के भोले छत्तीसगढ़ी गीतकार के रूप से हटकर सीधे-खुले-सहज नये कवि देवीप्रसाद वर्मा के रूप में उभरते हुए सामने आने लगे। इसमें कुछ योगदान श्रीहरि ठाकुर का भी रहा होगा, ऐसा अनुमान है। धीरे-धीरे देवीप्रसाद वर्मा बिलासपुर से रायपुर तक के सामाजिक-राजनीतिक कार्यकलापों तक सक्रिय हो उठे। हिन्दी साहित्य में संस्थागत जुझारूपन और पत्रकारितागत स्वतंत्र निर्मित दृष्टि उनमें उजागर होने लगी। उन्होंने निबंध, कहानी, उपन्यास और इतिहास भी लिखे। जहाँ वे सात कवियों के 'नये-स्वर' नामक सकलन से उभरे थे, 'संज्ञा' पत्रिका से जहाँ उन्होंने अपनी पहचान बनायी थी, 'सारिका' के माध्यम से माधवराव सप्रे की कहानी को हिन्दी की पहली कहानी सिद्ध कर समस्त हिन्दी क्षेत्र में छा गये।

उनके गद्य ग्रंथ स्वतंत्र ढंग से छपे, किन्तु कविताएँ या तो संकलनों में थीं, या पत्रों में। प्रसन्नता की बात है कि उनके चुने हुए गीतों और कविताओं का दूसरा संग्रह "रास्ता काटती बिल्ली" नाम से सन् '८३ में छपकर आ गया है।

इस संग्रह में कुल ४४ शीर्षक हैं जिनमें १२ तो गीत कहे जा सकते हैं, ३ छंदोबद्ध प्रायः लम्बी कविताएँ हैं और २८ लयबद्ध किन्तु निश्छंदया लयहीन कविताएँ हैं। आरंभ में वास्कोपोपा की एक कविता अनूदित रूप में उद्धृत है और आखिरी कविता (रास्ता काटती बिल्ली) की ओर इंगित करती है। 'पीपल', 'खेत का पुतला' और 'कुटरा' छंदोबद्ध कविताएँ हैं।

छायावाद के अग्रिम पंक्ति के जीवित वयोवृद्ध कवि मुकुटधर पाण्डेय के अनुसार, "वर्मा जी की कविता भावना-प्रधान है। उनके बीज घिसे-घिसाये नहीं, बिल्कुल ताजे हैं। ये कविताएँ आधुनिक हैं, पर उनमें अत्याधुनिकता नहीं है। वे सर्वसाधरण की समझ के बाहर नहीं हैं।"

देवीप्रसाद वर्मा की कविता का शब्दार्थ न तो दुरूह है, न व्यंजना या लक्षणा का आश्रयी, वह सहज संप्रेष्य है, अभिधात्मक है। यही देवीप्रसाद वर्मा की कविता का गुण है और यही दोष भी है। विषय और वस्तु, दोनों ही दृष्टियों से (अलग-अलग देखें तो भी एक मानकर देखें तो भी) उनकी कविता सहज सम्प्रेष्य है उसमे लोकप्रिय होने के गुण हैं पारंपरिक अनुभूतियो मे

भाषा का टटकापन भर कर उन्हें नायाब बना देना जहाँ उन्हें आता है, वहीं नयी समस्याओं को सपाट भाषा में व्यक्त कर वे सहज संप्रेष्य तो बनाते हैं, लेकिन अनुभूति-झनझनाती जीवंत भाषा देते ही नहीं। यह सच है कि वे तब सहज संप्रेष्य नहीं रह जाते।

देवीप्रसाद वर्मा का कविता-संसार वैविध्य-भरा है। उसमें गाँव के प्रति प्रेम है, नास्टेल्जिया है, गांधी जी की तरह वे भी गाँव की ओर चलने की बात करते हैं। "छोड़ शहर का सपना फिर नंगे पाँव चल" में वे गांधी और विनोबा की दृष्टि पकड़ते नजर आते हैं। यह दृष्टि उन्हें अपने परिवेश और बचपन में किशोरावस्था तक के विकास से सहज प्राप्त है। उसी परिवेश ने उन्हें गीतकार बनाया। 'पोखर', 'नयन का', 'गहरा सन्नाटा', 'चाँदर सी', 'हँसिया का खर-खर', 'फागुन का', 'नींद भरे', 'मेतयह, पानी दे' जैसे गीत इसके प्रमाण हैं। पलकें उन्हे तुलसीदल प्रतीत होती हैं—शायद पहली बार। गहरे सन्नाटे मे उन्हें कटही के काँटे का पहली बार चुभन-भरा अनुभव होता है। वे दर्द नहीं बाँटते, सुखद क्षण दूसरों को सौंपते हुए अतिरिक्त सुख पाते हैं। यह उनकी सहानुभूतिशील सक्रियता है। बरसती हुई वर्षा की बूँदों में उनका मन चावल को प्रत्यक्ष बगरता पाता है। हँसिया का खर-खर तो कटाई का ध्वनि-चित्रित सुन्दर गीत है। उन्होंने अनाजों में तिवरा को भी नहीं भुलाया है। 'फागुन का' मे बसंत का ग्राम्य चित्र है। खेतों पर उतरती जाड़े की साँझ का निदासा उदास चित्र जहाँ उन्होंने खींचा है, वहीं प्रसिद्ध वर्षा लोकगीत की लय में भारती जी की तरईभादर से पानी माँगते हुए कहते है, "पर्वत को तोड़-तोड़ / धूल में मिला दे तू / मरु होते खेत को। सींचकर जिला दे तू / सुआ और करमा के / स्वर में फिरसा दे तू / धान रंग धानी दे / धधकती जवानी दे।" यही धधकती जवानी आगे चलकर देवीप्रसाद वर्मा को गीतकार मात्र नहीं रहने देती, विद्रोह और न्याययुक्त कर्म के लिये प्रेरणा बनती है।

वे ग्राम देवता के आदर्शवाद से उबरकर उस यथार्थ को देख पाते हैं जहाँ उन्हें गाँव-जर्जर अभावों में सुख का ठाँव नजर आता है। यह कविता निराला के 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु' की तर्ज पर है।

छंदोबद्ध कविताओं में 'खेत का पुतला' विषय और भाव दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। शायद हिन्दी मे इस तरह की इस विषय पर अकेली कविता है। यह वस्तुतः उस किसान का सहज प्रतीक है जो बोनस, महँगाई आदि सारे यथार्थ से दूर सात्विक उन्नति के संकेत देता गहरे विश्वास को बढ़ाता है। पूरी कविता पठनीय है। इसकी सहजता तुक-ताल सहित देखते ही बनती है। एक छोटा मधुर चित्र भी द्रष्टव्य है, "पौधों की फोंको पर छायी गाढ़ी नयी गुलाबी। जैसे चिड़ियों की चोंचो की कुदरू जैसी लाली।" 'पीपल' और 'कुटरा' भी छंदोबद्ध हैं और अनावश्यक रूप से लंबी है। 'पीपल' की प्राचीनता में कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान शैली में भारतीय गौरव का पराक्रमपूर्ण चुनौती भरा दीप्त रूप खड़ा करता है और भवानीप्रसाद मिश्र की 'सन्नाटा' कविता की मार्मिक कहानी की तरह एक दूसरी मार्मिक कहानी कहता है। यह कविता ज्यादा अच्छी होती यदि सघन होती। कुटरा गाँव के नास्टेल्जिया को उबाऊ हद तक व्यक्त करती है। कुटरा नामक सरोवर में साँझ उतरकर पंत के अल्मोड़े को मात दे जाती है।

कवि पिछले बंधन तोड़ना चाहता है, वह छंदमुक्त भले हो जाता है, गाँव से उसका लगाव बना रहता है। 'समता का सूरज' में पश्चिम क्षितिज पर वह डालरों की धूल भले देख रहा हो, उगता हुआ सूरज खरी और खूब पकी मकई की रोटी-सा ही नजर आता है। यह नया उपमान देवीप्रसाद वर्मा का है जो एक दिन केदारनाथ सिंह की पकती जमीन में वह रोटी में नमक की तरह प्रवेश करता है। 'माँव की कब', 'गाँव की साँध गाँव की रात' गाव की बरसात', जेठ

हैं। कुहरा गाँव के ऐंठन-भरे विश्राम पर झुके ठंडे ओंठ-सा उन्हें दीखता है, पंतजी के अनुभव से देवीप्रसाद वर्मा का अनुभव ज्यादा सटीक है। कुम्हलाई घास झोपड़ी में दीप की लौ सी दिखती हुई अज्ञेय की पंक्तियों की याद दिलाती नयी लगती है। बताशे-सी धूप में उपमान अनुभूति के टटकेपन का इजहार करता है।

कवि ने जो दृष्टि अर्जित की है, उसके अनुसार, "आदि शक्ति है मनुज-मनुज में शक्ति सदा पलती है। वही शक्ति बन प्रणय ज्योति मानव उर में जलती है।" गाँव के प्रति कवि इतना ममतालु है कि उसकी अंतिम इच्छा है "मैं कहीं भी मरूँ, मेरी लाश कुटरा में आनी चाहिए।"

इस संग्रह की वे कविताएँ ज्यादा जानदार हैं जिनमें मध्यवर्गीय यथार्थ चित्रित है—कभी व्यंग्य के माध्यम से, कभी विसंगति चित्रण से, कभी विशेष पर्यवेक्षण के नाते। ये कविताएँ छोटी और निश्छन्द हैं, नयी कविता के दौर की हैं। इनमें कवि की सहानुभूति विस्तार पाती गई है। सहज करुणा से द्रवित वह घोर कूट यथार्थ को देख सका है। इस तरह की कविताओं का आरंभ 'कुटरा' और 'टेढा' से ही हो जाता है। छत्तीसगढ़ी के शब्दों के प्रयोग में कवि कुशल तो है ही, कवि-दृष्टि अकेलेपन में भी साहस, सामूहिक सुरक्षा की व्यक्तिनिहित भावना और सहने की ताकत को पकड़ सकी है। रखवार, चौकीदार, बाल ब्रह्मचारी, संगीतज्ञ, चुप हैं हम, मजबूरियाँ, जीवन और सेक्स, उद्गम, सिगड़ी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कविताएँ हैं। क्लर्क का बेटा लम्बी होने में कविता कम रह गयी है, गद्य अधिक हो गयी है। बीच-बीच में अच्छी कविता दूध मोगरे सी दिख जाती है। यद्यपि कवि को भय है "जब सूख जायगी यह नदी, तब इन किनारों का क्या होगा ?"

उस नदीहीनता को कौन जियेगा ? किन्तु यह अगाध आस्था भी है अँधेरा टूटने को है। आसमान हो रहा सुरमीला।

अंततः सबसे पहली कविता, जो एक स्केच है, भुलाये नहीं भूलती, याद रह जाती है। हिन्दी में शायद ही इतना अच्छा स्केच किसी कवि ने स्वयं का खींचा हो। देवीप्रसाद वर्मा गीतकार रहे हैं, कवि हैं, कथाकार हैं, इतिहासकार हैं, एडवोकेट हैं, जनसेवी हैं, जुझारू हैं, उनका यह संग्रह और उनके कर्म इनके प्रमाण हैं। लोकतांत्रिक अधिकारों के लिये बद्धपरिकर अनुभूति और सहानुभूति भरे देवीप्रसाद देखने में भावहीन लगते हैं। इस बात को बड़ी सफाई और तटस्थता से उन्होंने कहा है—

> ऊपर से न कोई हर्ष है
> भीतर से न कोई विषाद है।
> इसके मायने महज देवीप्रसाद है।

भविष्य में हम ऐसे संग्रह की अपेक्षा करते हैं जिसमें रास्ता निष्कंटक हो, उसे बिल्ली न काटती हो।

●

श्रीराम वर्मा
ए-८, पन्नालाल-कॉलोनी,
सिविल लाइन्स, आजमगढ़-२७६००१

पुस्तक का नाम—बसन्त के इन्तजार में
लेखक—वेदप्रकाश अमिताभ
प्रकाशक—इन्दु प्रकाशन, १४/११२, अचल तालाब,
अलीगढ़, प्र० सं० १९८३, पृ० सं० ६४
मूल्य १५/-

डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ के इस प्रथम काव्य-संग्रह को दो खंडों में विभाजित किया गया है। खंड 'एक' में मुक्त छन्द की पच्चीस रचनाएं हैं जो उनके जनधर्मी चिंतन और अनुभव की देन हैं। इनमे कवि की पैनी दृष्टि जीवन के बहुआयामी स्वरूप देखने में सक्षम है। कवि के लिए कविता में यथार्थबोध और प्रासंगिकता का सवाल प्रमुख है, यही कारण है कि ये रचनाएँ भाववादी दर्शन या रोमानियत से दूर है। कवि की दृष्टि में 'कविता रोशनी है जो अँधेरे के विरुद्ध युद्ध में मशाल' बन जाती है। कवि ने 'भूख के कुएँ को पाटने के लिए' कविता लिखी है; किसी प्रकार के मनोरंजन या व्यवसाय के लिए नहीं। वह किसी खुशनुमा फूल या खूबसूरत झील पर कविता लिखने की बजाय 'कुचली गयी घास' पर कविता लिखना पसन्द करता है—

> 'जो कल भी पददलित थी / और आज भी है / शायद कल न रहे / लेकिन कब तक कुचली रहेगी / जब तक रौंदने वाले बूटों का सिलसिला / खत्म नहीं होता / फिर हम / कुचली गयी हरी घास पर ही कविता क्यों न लिखें ?' (पृष्ठ ५४)

यह कुचली गयी घास हमारे समाज के शोषित और पददलित व्यक्ति का प्रतीक है। कवि का विश्वास है कि शोषण के इस लम्बे सिलसिले के विरुद्ध लड़ाई लड़ने के लिए संगठित होना जरूरी है—'अकेली लड़ाई एक रोमैंटिक कल्पना है' '' इसके लिए तमाम 'बिखरी हुए चिन-गारियों को / मिलकर लपट बनना होगा।' (पृ० ३७) कवि ने शोषक शक्तियों को यह चेतावनी दी है कि 'अब हमारी 'नयी किताब' में 'ग' का मतलब 'गाल' नहीं / गाली या गोली है।' (पृ० १०)

कवि ने भारतीय जनतान्त्रिक व्यवस्था पर भी व्यंग्य किया है—'जनतन्त्र एक खैराती दवाखाना है / जहाँ पर रोग का / पेटेण्ट दवाओं से / शर्तिया इलाज किया जाता है / पहले से / यह मानते हुए कि / हर रोग लाइलाज है।' (पृ० ३२) जनतांत्रिक व्यवस्था में मसीहाई मुद्रा भी एक 'मजाक' बन गयी है। देश के कर्णधार मसीहा बनने की कोशिश में प्रायः आग लगाकर उसे बुझाने का नाटक करते हैं।

आज आम आदमी शोषित और अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा है। उसके जीवन में बसंत कभी नहीं आता। कवि सोचता है कि इन परिस्थितियों में बसंत का इंतजार करना भी व्यर्थ है—'आखिर कहाँ है वह बसन्त / सुना है वह आजकल / कुछ कोठियों-बँगलों का खास मेहमान है।' (पृ० ३३)

'बरसात' शीर्षक कविता में 'बादलों के बेतरतीब जुलूस पर हवा का लाठी चार्ज देख' आसमान का तड़पना, रोना और धरती की छाती भिगोना जैसे बिम्ब कवि की प्रतिबद्धता और कलात्मक चेतना के सुन्दर उदाहरण हैं।

खण्ड 'दो' में कवि के बारह गीत और बारह ग़ज़लें संगृहीत हैं। इन रचनाओं में व्यक्तिगत अनुभूतियों से लेकर परिवेशगत तनाव तक कवि की संवेदना मुखरित हुई है। गीत 'छह' में कवि वर्ग-संघर्ष की बुनियादी विचारधारा को पुष्ट करता हुआ कहता है—'संघर्षों की मौजों में वे ही ठहरे हैं / जिनके हाथों में सुविधा की पतवार नहीं' (पृ० ४६ और इन सुविधाभोगी लोगों के

कवि का उपभोग करता है

ठेकेदारी है चरित्र की / जिन लोगों के/
मुँह पर कालिख अपवादों की
मौलिकता की प्रथम पंक्ति में / लोग खड़े हैं /
पूँजी लेकर अनुवादों की ।' (पृष्ठ ४८)

संग्रह के कुछ गीत केवल यथार्थ-बोध तक सीमित न रहकर सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान भी करते हैं —

'कल की भूख, आज मुँहजोरी, कल बन्दूक बनेगी
पेट रहा खाली तो हममें तुममें खूब ठनेगी ।' (पृ० ५१)

संगृहीत ग़ज़लों में भी अच्छे बिम्ब और तीखे विचार साम्प्रतिक हिन्दी ग़ज़ल को नया आयाम देते हैं—

'पूस की रात में यह कैसी हवा है हल्कू/
नीलगायों से हरे खेत बचाने निकले ।' (पृ० ५८)

वर्तमान परिस्थितियों में कवि को अपने शहर में भी छावनी का भ्रम होता है—

'हर हरफ बन्दूक वहशत की तनी है /
यह शहर है या कि कोई छावनी है' (पृ० ६१)

अन्त में कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है—

'है बहुत दुर्गन्ध गलियों में / दिलों में /
प्यार की खुशबू यहाँ पर बाँटनी है ।' (पृ० ६१)

कुछ सामान्य रचनाओं को छोड़कर, संग्रह की अधिकांश रचनाओं में वर्तमान स्थिति का यथार्थ और समय-सापेक्ष चित्रण है । चूँकि यह कवि का पहला काव्य-संग्रह है, इसलिए इसमें व्याकरण के सामान्य दोष नज़र-अन्दाज किये जा सकते हैं । कुल मिलाकर, काव्य-संग्रह वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से आश्वस्त करता है ।

हरिशंकर सक्सेना
६०४, साहूकारा (गली-नबीलान)
बरेली—२४३००३

पुस्तक नाम—अंधा सूरज (उपन्यास)
लेखक—डॉ० सिंहेश्वर सिंह
प्रकाशक—सरस्वती प्रकाशन मन्दिर,
नया बैरहना, इलाहाबाद
मूल्य—रु० ३०/-

भाषा नदी के समान होती है जिसमें बोलियाँ पानी के समान बहकर आती हैं और अपनी विशिष्टता प्रदान कर उसे सम्पन्न एवं उर्वर बनाती हैं । 'अंधा सूरज' उपन्यास अपनी भाषिक संरचना में एक नये आयाम का द्वार खोलता है । लोक-जीवन की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति अपने आत्यन्तिक यथार्थ में तभी संभव हो सकती है जब बोली के स्थानीय मुहावरे, लहजे, ध्वनि, रूप, रंग और रेखाओं तक को कला की नाजुक उँगलियों से सँजोकर प्रस्तुत किया जाय । 'अंधा सूरज' में भोजपुरी के वाक्य विन्यास, उसकी आन्तरिक प्रकृति को हिन्दी के कलेवर में ढालकर

'अंधा सूरज' की शैली एकालाप-प्रधान कथोपकथन से युक्त है। इसमें जीवन की पहचान जितनी गहराई से प्रस्तुत की गई है, हिन्दी के कम उपन्यासों में दृष्टिगत होती है। इसमें 'रेणु' के आंचलिक उपन्यास के सम्पूर्ण गुणों को गहरे काव्यात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। लेकिन निर्मल वर्मा की जमी हुई अनुभूति की सघनता को अद्भुत सामंजस्य प्रदान किया गया है। रेणु के भाषा के प्रयोग में बंगला का असर है और निर्मल वर्मा ने अंग्रेजी के लहजे को हिन्दी की प्रकृति दी है, लेकिन उसमें जीवन की सच्चाई का आश्वासन नहीं है। 'अंधा सूरज' भाषा की बनावट और सरलता में रेणु और निर्मल वर्मा दोनों को साथ लेकर चलता है।

यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की नाजुकी के कारण 'अंधा सूरज' लिरिक नोवेल है। गीतिकाव्य में अनुभूति की सघनता, तीव्रता, कोमल शब्दों का चुनाव और सबका समीकृत अन्वय गीतात्मक प्रकृति को जन्म देता है। अंधा सूरज में लिरिक टेंडेंसी है। जीवन का तीखा दर्द संघर्ष की भावभूमि पर गद्य की जमीन पर खड़ा कर देता है।

कहने वाले तो यह भी कह सकते हैं कि रवीन्द्र की भावभूमि को गोर्की की जमीन पर उतारने का प्रयास 'अंधा सूरज' है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ मे लेखक की कविताओं का संयोजन द्वार खोलता है जिससे होकर जीवन का रूप-अरूप, एक खास क्षेत्र का दुःख-दर्द, गीत-अगीत की मार्मिक झाँकी है। पुस्तक के सम्पूर्ण कथानक में तन्द्रा के नशे में बड़बड़ाता गाँव, कस्बा, पेड़, नदी-नाले खामोशी के उजाले-अँधेरे में पीड़ा से ऐंठती, परन्तु दुःख की हँसी हँसती जिंदगी दिखलाई पड़ती है।

सूरज, सूरज की माँ, तबलची, उसकी माँ अपनी इकाई में पूर्ण कैरेक्टर होते हुए भी समाज के प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत करते हैं। शाम के अँधेरे में झोंसी-फुट्टो में भीगते लोग, गगाघट का भीगता किनारा, मंत्र पढ़ते, गाली देते लोग एक अमिट छाप छोड़ते हैं।

कथा के निर्माण में स्थापत्य को नया आयाम दिया गया है। उपन्यास की कथा का एक अध्याय दूसरे अध्याय को संबल नहीं देता, अपना नया जन्म देता है। उपन्यास की कथा वातावरण-प्रधान है, चरित्र-प्रधान नहीं। पानी पर तेल के समान फैलता कथा-वितान, चरित्र की लघु लहरियाँ वातावरण में घुलती-मिलती एक लय हो जाती हैं।

उपन्यास की शैली का एक दूसरा पहलू है फिल्मी दृश्याकरण। दृश्यों का प्रस्तुत विधान, गत्यात्मकता, भाषा और जीवन की आन्तरिक लय रचना को नवीन छवि प्रदान करती है। लोक-गीतों को जीवन के सन्दर्भों से जोड़कर उसकी सहज मार्मिकता को उजागर किया गया है। परवर्ती हिन्दी उपन्यासों में जिस जीवन को जिस रूप में कहा गया है, उससे अलग हटकर तीसरी दुनियाँ के अँधेरे-उजाले में टूटती मानव-मूर्तियाँ, उनकी चीख-आह उपन्यास का कलेवर धारण कर सामने प्रस्तुत हुई है।

उपन्यास का कथानक फन्तासी है या यथार्थ, इस पर बहस हो सकती है। इसका चरित्र, वातावरण अपने समग्र अर्थ में एकहरे हैं या कई रंग छोड़ते हैं, यह पाठक की चेतना का विकास बतायेगा।

कवरपेज की तस्वीर उपन्यास के अर्थबोध को नई शक्ल प्रदान करती है। नया अर्थ और नई दिशा देती है। छपाई और गेट-अप नयनाभिराम आकर्षक है।

डॉ० रामजी पाण्डेय
अशोक नगर,
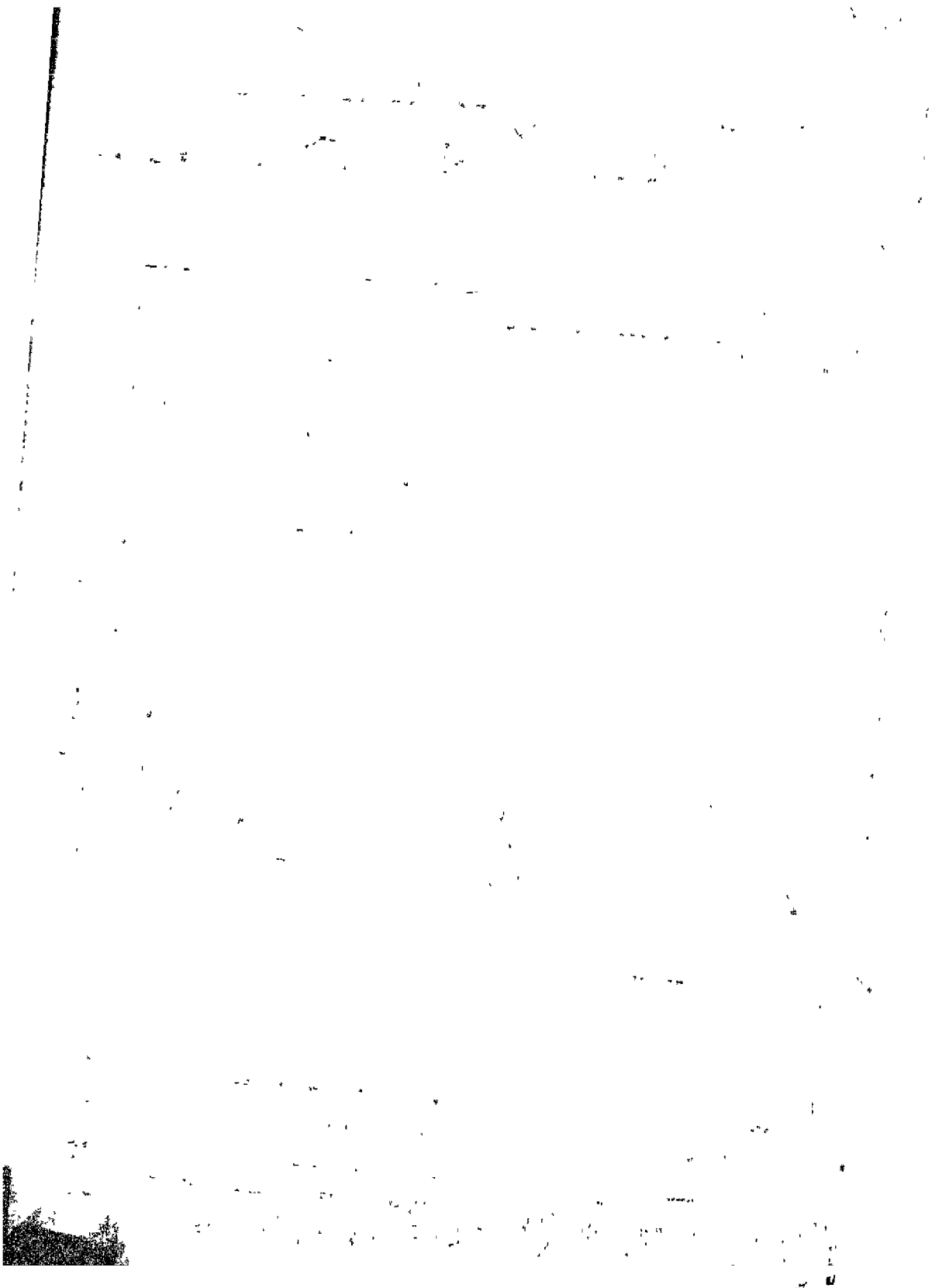
हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

भाग ४५ | अप्रैल-जून

अङ्क २ | सन् १९८४ ई०

प्रधान सम्पादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

सम्पादक

डॉ० जगदीश गुप्त

सहायक सम्पादक

डॉ० रामजी पाण्डेय

मूल्य - ५ रुपये] [वार्षिक २० रुपये

अनुक्रमणिका

□

चन्द वरदाई :
कुछ नए तथ्य, नई दृष्टि

□

डॉ० केदार मिश्र

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्तित्व चन्द वरदाई का रहा है। यहाँ तक कि इनके अस्तित्व पर ही संदेह प्रकट किये गये हैं। इसके उपरान्त भी हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में आज भी चन्द कवि का वही स्थान बना हुआ है। इसे मात्र इतिहासकारों का मोह नहीं कहा जा सकता, निश्चित ही चन्द के व्यक्तित्व में कुछ न कुछ ऐसा रहा है जिसके परिणामस्वरूप अनेक प्रयास भी उन्हें अपने स्थान से विचलित नहीं कर पाये हैं। यहाँ हम कुछ पूर्व उपलब्ध एवं नव्य तथ्यों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिससे चन्द वरदाई के व्यक्तित्व पर एक नया प्रकाश पड़ता है।

अन्तःसाक्ष्य—रासो के अनुसार पृथ्वीराज और चन्द कवि का जन्म तथा मृत्यु दिन एक ही था—

जीह जोति कवि चन्द, रूप संजोगी भोगी भ्रम।
इक्क दीह उपन्न, इक्क दीहे समाय कम ॥६२॥

चन्द का जन्म-स्थान लाहौर था—

बलिभद्र सु नागौर, चन्द उपज्जि लाहौरह ॥१०३॥ —आदि सम्यो

रासो में कवि के दस पुत्रों का उल्लेख मिलता है। उनमें से एक झल्ल था जिसे चन्द अपनी अपूर्व कृति रासो को प्रदान कर स्वयं आश्रयदाता पृथ्वीराज के साथ युद्ध में सम्मिलित हो गये थे—

दहति पुत्र कवि चन्द के, सुन्दर रूप सुजान।
एक झल्ल गुण बावरो, गुण समन्द सखिमान ॥१॥
आदि अन्त लगि भ्रन्तमन, बनि गुरनी गुन राज।
पुस्तक झल्लन हत्त दे, चलि राजन कविराज ॥२॥

चूंकि पृथ्वीराज रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त है, अतः उक्त सूचनाओं की सत्यता के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।[1]

बाह्य साक्ष्य— बाह्य साक्ष्य के रूप में हम यहाँ साहित्य-लहरी, नेनूराम ब्रह्मभट्ट आदि की चर्चा के उपरान्त कुछ और नवीन तथ्य प्रस्तुत करेंगे—

(१) **साहित्य-लहरी**—'साहित्य-लहरी' के अनुसार महाकवि सूरदास चन्द के वंशज थे। ग्रियर्सन ने, सूरदास के सन्दर्भ मे 'साहित्य-लहरी' के आधार पर पूरी वंशावली प्रस्तुत की है।[2]

ब्रह्मराव, जगात
|
चन्द (११९० ई० में उपस्थित)
|
(द्वितीय पुत्र) गुनचन्द्र
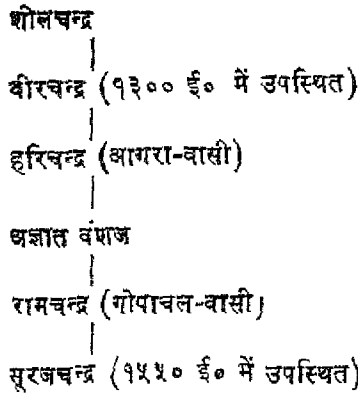
ग्रियर्सन ने जो वंशावली सूरदास के सन्दर्भ में प्रस्तुत की है, संक्षिप्त है। 'साहित्य-लहरी' के आधार से पूर्ण वंशावली इस प्रकार है—[3]
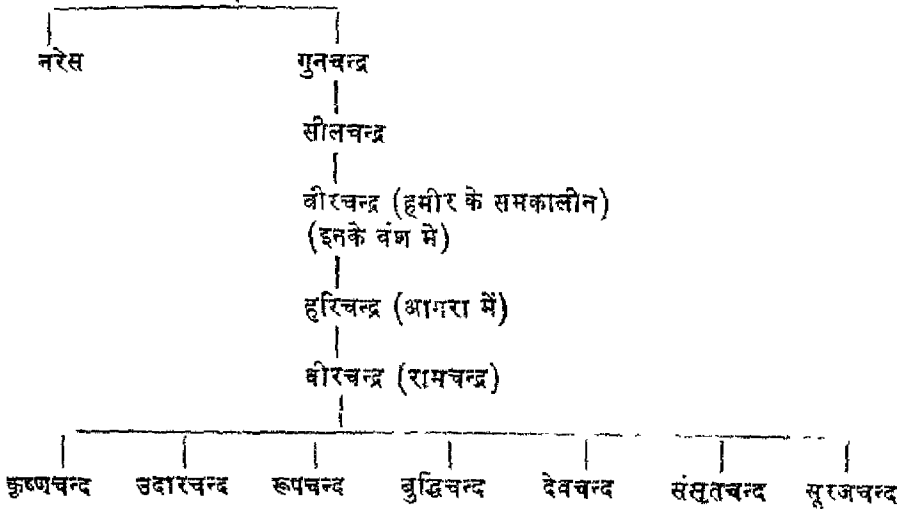
किन्तु विद्वानों में 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता को लेकर संदेह है।

(२) नेनूराम ब्रह्मभट्ट—नेनूराम ब्रह्मभट्ट अपने को चन्द से २७वीं पीढ़ी में मानते हैं। इनके अनुसार उनके पूर्वज ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत एक ग्राम में रहते थे। सूरदासजी के भाई बुद्धचन्द और देवचन्द अपनी दादी लक्ष्मी देवी को लेकर जोधपुर राज्य के प्रसिद्ध नगर नागौर में चले आये थे। नेनूरामजी के पिता वृद्धिचन्दजी नागौर छोड़कर बीकानेर में आ बसे।[4] नेनूरामजी ने निम्नलिखित वंशावली प्रस्तुत की है[5]—

वीरचन्द
हरिचन्द
रामचन्द
विष्णुचन्द
उद्धरचन्द
रूपचन्द
बुद्धचन्द
देवचन्द
सूरदास
खेमचन्द
गोविन्दचन्द
जयचन्द
मदनचन्द
शिवचन्द
बलदेवचन्द
चोथचन्द
बेनीचन्द
गोकुलचन्द
वसुचन्द
लेखचन्द
कर्णचन्द
गुणगङ्गचन्द
मोहनचन्द
जगन्नाथ
रामेश्वर
गंगाधर
भगवान सिंह
कर्मसिंह
माधुरसिंह
वाग्गोविंदसिंह
भानसिंह
विजयसिंह
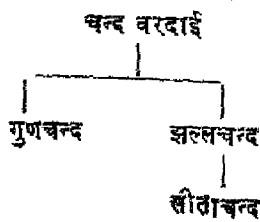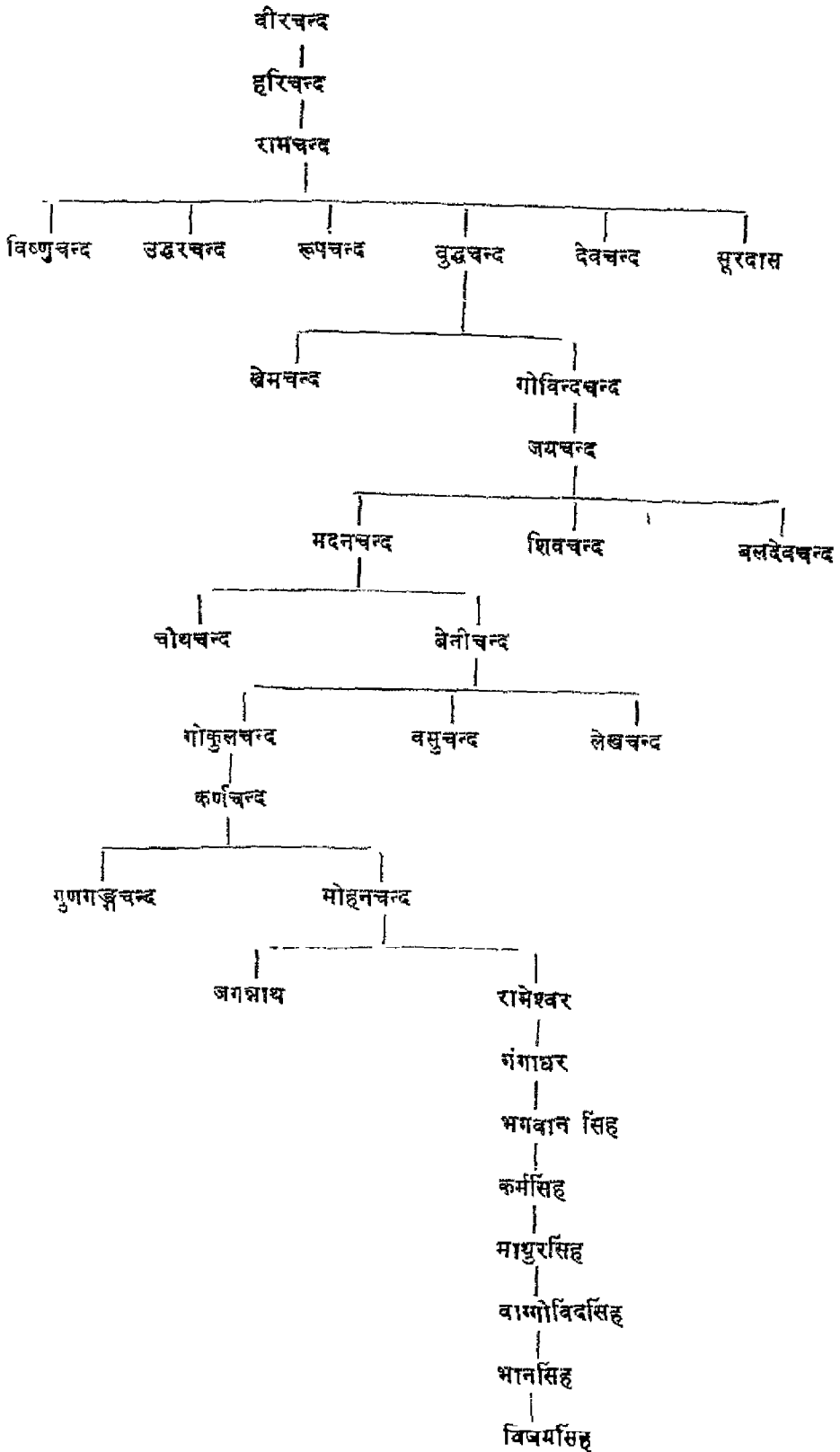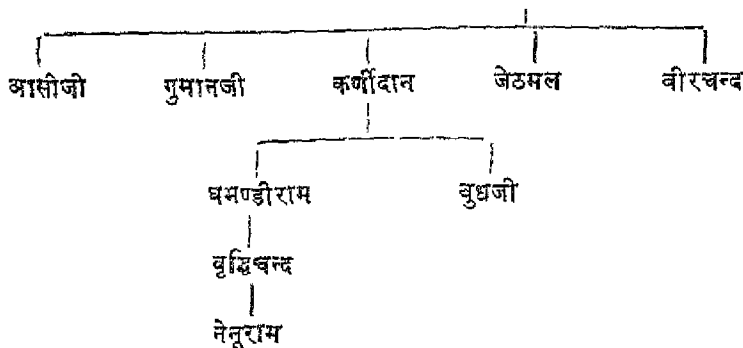
किन्तु, इस वंशावली की प्रामाणिकता का अन्य कोई आधार नहीं है, इसलिये विद्वानों ने इसे भी विश्वसनीय नहीं माना है। यहाँ 'साहित्य-लहरी' एवं नेनूराम-प्रदत्त उक्त वंशावलियों को प्रस्तुत करने का ध्येय यह देखने का प्रयास है कि चन्द कवि के ऐतिहासिक महत्त्व से आकर्षित होकर किस प्रकार की भ्रान्तियाँ पैदा की गयी हैं।

'साहित्य-लहरी' प्रदत्त वंशावली एवं नेनूराम द्वारा प्रस्तुत वंशावली के अध्ययन से स्पष्ट है कि नेनूरामजी ने सम्भवतः 'साहित्य-लहरी' की वंशावली को आगे बढ़ाकर अपने वंश को उसमें संयुक्त कर दिया है। इस जोड़-तोड़ को बैठाने में उन्होंने कई स्थान पर 'साहित्य-लहरी' को भी पीछे छोड़ दिया है।

'साहित्य-लहरी' में 'गोपाचल' का उल्लेख हुआ है, नेनूरामजी ने अपने पूर्वजों का स्थान भी ग्वालियर (गोपाचल) लिखा है। 'साहित्य-लहरी' में चन्द के चार पुत्रों की सूचना दी गयी है, नेनूजी ने भी चार ही पुत्र माने हैं, किन्तु कुछ जोड़-तोड़ के साथ। साहित्य-लहरी में चन्द का प्रथम पुत्र नरेश तथा द्वितीय गुणचन्द्र कहा गया है। यहाँ प्रथम पुत्र का उल्लेख कुछ अस्पष्ट है—

तनय ताके चार, कीन्हो प्रथम आप नरेस
दूसरे गुणचन्द्र ता सुत सील चन्द सरूप।

सम्भवतः इस अस्पष्टता से बचने के लिए या इस अस्पष्टता से लाभ उठाकर रासो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ने के लिए नेनूजी ने गुणचन्द्र को प्रथम तथा रासो के आधार पर झल्ल को द्वितीय पुत्र के रूप मे सम्मिलित कर उन्ही से आगे का वंशक्रम प्रस्तुत किया है।

नेनूजी ने रासो से झल्ल को तो ग्रहण कर लिया, किन्तु दस पुत्रों के स्थान पर 'साहित्य-लहरी' के अनुरूपचन्द के चार पुत्र ही माने हैं। 'साहित्य-लहरी' में रामचन्द्र के सात पुत्रों मे 'ससुत-चन्द' का उल्लेख हुआ है—'देवचन्द प्रबोध संसुतचन्द ताको नाम'—यहाँ नाम के स्पष्टबोध का अभाव है। सम्भवतः इसलिए नेनूजी ने रामचन्द्र के सात के स्थान पर छह ही पुत्र मान लिए हैं। इसी प्रकार 'साहित्य-लहरी' मे चौथे पुत्र के लिए 'चौथौ चन्द' का प्रयोग हुआ है। नेनूराम-प्रदत्त वंशावली में मदनचन्द का पुत्र चौथचन्द भी है।

'साहित्य-लहरी' का सूरचन्द नेनूराम जी की वंशावली में सूरदास है। इस प्रकार दोनों वंशावलियाँ सूरदास तक प्रायः एक ही हैं। 'साहित्य-लहरी' में यह वंशावली सूरदास के इस कथन के साथ यहीं समाप्त हो जाती है कि मेरे छह भाई मुसलमानों (स्याहि सेवक) से मारे गये—

'सो समर करि स्याहि सेवक गए विधि के लोक'

नेनूरामजी ने इसकी उपेक्षा करके सूरचन्द के चौथे भाई बुद्ध (बुद्धि) चन्द से एक नवीन वंशक्रम जोड़ दिया है कोई आश्चर्य नहीं कि जिस प्रकार ग्रियर्सन ने साहित्य-लहरी सम्बन्धी

सामग्री भारतेन्दु से ग्रहण कर चन्द के सन्दर्भ में प्रस्तुत कर दी है[६], उसी भाँति या उसी प्रेरणा से नेनूरामजी ने भी भारतेन्दु से उक्त सामग्री ग्रहण कर अपनी वंशावली से संयुक्त कर ली हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त दोनों वंशावलियाँ अशुद्ध ही नही, अपितु भ्रामक भी है जो चन्द-सम्बन्धी सूचना देने के स्थान पर भ्रांतियाँ उत्पन्न करती हैं।

(३) **कवि जदुनाथ भाट**—हम यहाँ एक और व्यक्ति को प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने आज से लगभग २५० वर्ष पूर्व अपने आपको चन्द का वंशज कहा है—ये हैं कवि जदुनाथ भाट जो करोली नरेश गोपाल सिंह (सं० १७८१-१८१४) के आश्रित कवि थे—

(i) कुँवर पाल के सुत भये भूपति श्री गोपाल।
जदुकुल में फिरि अवतरे मानो श्री गोपाल ॥२८॥

(ii) लसनि करौरी भूमि पर त्यौं नृप जुत गोपाल ॥४०॥ —वृत्तविलास

जदुनाथ भाट ने अपने ग्रन्थ वृत्तविलास[७] में अपना वंश-परिचय प्रस्तुत किया है। इसके आधार पर जदुनाथ कवि का निम्नलिखित वंशवृक्ष प्रस्तुत होता है—

चन्द भाट (पृथ्वीराज के समकालीन)
+ + +
मायाराम (सं० १६५० के लगभग)
|
दामोदर (सं० १७०० के लगभग)
|
नन्दराम
|
थानसिंह (सं० १७४० के लगभग)
|
धरनीधर (सं० १७८० के लगभग)
|
जदुनाथ (सं० १८०० के लगभग)

इस वंशवृक्ष से चन्द कवि के पूर्वजों एवं उनके पुत्र आदि के सन्दर्भ में तो सूचना प्राप्त नहीं होती, किन्तु इससे 'साहित्य-लहरी' और नेनूराम द्वारा प्रदत्त वंशावलियाँ असत्य सिद्ध हो जाती हैं, साथ ही चन्द वरदाई का अस्तित्व एक नए प्रमाण के साथ पुनः हमारे सामने प्रस्तुत होता है। आज से २५० वर्ष पूर्व प्रस्तुत उक्त वंश-परिचय पर सन्देह का कोई कारण नजर नहीं आता।

चन्द का व्यक्तित्व—जदुनाथ भाट ने 'वृत्तविलास' में चन्द वरदाई के व्यक्तित्व का परिचय प्रदान करते हुए कहा है कि—

सिव जुत सेई सकति तिन भए प्रगट सिव देव।
तब तैं जानत देव सम चाहुवान नर देव ॥५२॥
सिवा सहित सिव वरु दयौ ह्वै प्रसंन इकवार।
बुधि वर दायक विदित भये सकल संसार ॥५३॥ —वृत्तविलास

जदुनाथ-प्रदत्त कवि-परिचय में एक तथ्य और उल्लेखनीय है, उन्होंने पृथ्वीराज का परिचय इस प्रकार दिया है—

'अनल पाल नृप वंस हुव प्रथी राज चहुवान'

यहाँ पृथ्वीराज को अजयपाल (अजमेर के संस्थापक) के भी पूर्वज तथा चौहानों के आदि-पुरुष अनल पाल (अनहिल पाल)[८] का वंशज कहा जाना कवि के इतिहास-बोध को तो व्यक्त करता ही है साथ ही कवि के कथन को भी विश्वसनीय बनाता है

काल-निर्धारण— चन्द वरदाई के काल को लेकर इतिहासकारों में प्रचलित विवाद से अलग हटकर हम यहाँ प्राप्त तथ्यों के आधार पर ही कवि-काल के निर्धारण का प्रयास करेंगे। उपर्युक्त जदुनाथ भट्ट ने अकबर (सं० १६१२-१६६२) के शासन-काल तक के अपने पूर्वजों का क्रमबद्ध उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि चन्द उक्त काल (सं० १६००) से पूर्व का कवि था।

पुरातन प्रबन्ध-संग्रह—पुरातन प्रबन्ध-संग्रह (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पुष्प २) में संकलित पृथ्वीराज और जयचन्द विषयक प्रबन्धों में चन्द-रचित चार छप्पय उद्‌धृत हैं। सम्पादक जिन-विजय मुनि के अनुसार यह प्रति संवत् १५२८ की लिखी हुई है। इससे चन्द वरदाई का अस्तित्व स० १५२५ से पूर्व निर्धारित होता है, किन्तु विद्वानों ने इसके लिपि-काल पर संदेह व्यक्त किया है, अतः इसे विश्वसनीय आधार नहीं कहा जा सकता।

राज-प्रशस्ति—उदयपुर के महाराणा जयसिंह प्रथम (सं० १७०८-३७) के राज्य-काल मे रचित 'राज-प्रशस्ति' (सं० १७१८-३२) के तीसरे सर्ग में उल्लेख मिलता है—

राजप्रशस्ति के उल्लेख से चन्द वरदाई का उपस्थिति-काल सं० १८१८ से पूर्व असंदिग्ध है।

पिंगल-शिरोमणि—चन्द वरदाई एवं रासो की प्राचीनता और विश्वसनीयता आचार्य कुशल-लाभ-कृत पिंगल-शिरोमणि (सं० १६१५ से पूर्व रचित)[९] से सिद्ध हो जाती है जिसमे आचार्य ने विभिन्न संदर्भों मे चन्द वरदाई एवं पृथ्वीराज रासो का उल्लेख किया है, जैसे—

(i) 'पंखी इसौ नाम घोड़ा रौ कहियौ, सो रासा थी लहियौ।
साख रासारी संजोगता रा समहया मांहे।'

(ii) 'चंद वरदाई रासा रौ कर्ता'

यहाँ किसी भी संदेह की आशंका शेष नहीं रहती है। पूर्णतः स्पष्ट है कि चन्द कवि कुशल लाभ से पूर्व कवि, छन्दशास्त्री एवं आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित थे। कुशललाभ जैसलमेर के हर-राज भाटी के काव्य-गुरु थे। इनका रचना-काल सं० १६०० वि० के आस-पास से प्रारम्भ होता है।[१०] चन्द कवि की कुशललाभ तक प्रसिद्धि पहुँचने के लिए तत्कालीन स्थिति के अनुरूप १००-१५० वर्ष का काल निर्धारित करना अनुचित नही होगा। इससे चन्द कवि एवं उनका रचना-काल सहज ही सं० १४०० वि० के आस-पास पहुँच जाता है। तब चन्द वरदाई पृथ्वीराज के समकालीन ही रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जदुनाथ भट्ट से भी इसकी पुष्टि होती है। डॉ० सत्येन्द्र की भी यही मान्यता है कि "जो भी हो, पृथ्वीराज (रासो) पूर्णतः न तो अप्रामाणिक है, न १६वीं-१७वी शती का × × × यह महाकाव्य बारहवीं-तेरहवीं शती का काव्य है।"[११]

निष्कर्षतः उपर्युक्त विवेचन से हमें जदुनाथ भट्ट (सं० १८०० के लगभग) तथा आचार्य कुशललाभ (सं० १६०० वि०) के माध्यम से दो नव्य आधार प्राप्त होते हैं जो चन्द कवि के अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को प्रामाणिकता और प्राचीनता प्रदान करते हुए पृथ्वीराज की समकालीनता को इंगित करते हैं।

कृतित्व—चन्द वरदाई के नाम से अभी तक मात्र पृथ्वीराज रासो ग्रन्थ ही जाना जाता रहा है। किन्तु हमे अपनी खोज मे इनकी दो अन्य कृतियो का भी उल्लेख मिला है। इस प्रकार चन्द की कृतियों की संख्या तीन हो जाती है—

(१) पृथ्वीराज रासो, (२) पिंगल ग्रन्थ (छन्दशास्त्रीय), (३) गंगा सहस्त्र नाम।

(१) **पृथ्वीराज रासो**—चन्द के व्यक्तित्व से भी अधिक उनका रासो ग्रन्थ विवादास्पद रहा है। उन विवादों को प्रस्तुत करना यहाँ ध्येय नहीं है फिर भी कुछ एक स्थापनाओं पर विचार करना है। वीर विनोद मे मेवाड़ के इतिहास म कविराजा स ने लिखा है कि

"वास्तव में यह ग्रन्थ किसी भाट ने पृथ्वीराज के बहुत समय पीछे भाषा-कविता में बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है।"[१२] उन्होंने आगे लिखा है कि "यह भी स्पष्ट है कि वह राजा सोमेश्वर देव अथवा पृथ्वीराज चहुवान का कवि नहीं था, यदि ऐसा होता तो वह पृथ्वीराज की जन्म-तिथि, मुहूर्त और लग्न अवश्य ठीक-ठीक जानता, और चन्द बरदाई नाम से कवि का होना भी पृथ्वीराज रासो ही से जाना जाता है।"[१३]

कविराजा रासो के निर्माण काल का निर्धारण करते हुए लिखते हैं कि "......महाराणा संग्राम सिंह अव्वल के समय में विक्रमी १५७५ (हि० ९२४ = ई० १५१८) के बाद यह ग्रन्थ बनाया गया; लेकिन मेरा खयाल है कि उक्त जमानह से भी बहुत अरसे बाद यह ग्रन्थ बना है × × उक्त बादशाह (अकबर) की गद्दीनशीनी के बाद और विक्रमी १६७१ (हि० १०२३ = ई० १६१४) के पहले यह ग्रन्थ बनाया गया।"[१४]

कविराजा ने अपनी स्थापनाओं के लिए रासो में प्रयुक्त संवद्, पात्र तथा घटना आदि को आधार बनाकर जो विस्तृत विवेचन किया है, उससे यह तो सिद्ध होता है कि रासो में प्रयुक्त सम्वत् आदि अशुद्ध है, किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि चन्द कवि हुआ ही नहीं, या रासो पूर्णत: जाली है। इसी प्रकार इन मान्यताओं को भी आज स्वीकार नहीं किया जा सकता कि चन्द वरदाई नाम के कवि का होना भी पृथ्वीराज रासो ही से जाना जाता है और अठारहवीं शताब्दी से पूर्व के किसी ग्रन्थ में रासो का नामोल्लेख नहीं मिलता। आचार्य कुशललाभ की साक्षी से उक्त सभी मान्यताएँ खंडित हो जाती हैं। कुशललाभ का रचना-काल (सं० १६०० से आरम्भ) न केवल १८वीं शताब्दी से, अपितु अकबर की गद्दीनशीनी (सं० १६१२ वि०) से भी पूर्व का काल है जिन्होंने अपने 'पिंगल शिरोमणि' ग्रंथ में अनेक स्थलों पर चंद एवं रासो का उल्लेख ही नहीं, उदाहरण तथा साक्षी के रूप में उपभोग भी किया है[१५] जो चन्द कवि तथा उनके रासो ग्रन्थ को सं० १६०० वि० से पूर्व का सिद्ध कर देता है।

कविराजा श्यामल दान ने रासो में प्रयुक्त संवतों को अशुद्ध ठहराते हुए कहा है कि "पृथ्वीराज रासो से राजपूतानह के इतिहासों में संवतों की बहुत-सी भूलें हुई हैं।"[१६] कविराजा का यह कथन सही हो सकता है, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वीराज रासो में संवतो की यह भूल और इतिहास-निर्वाह की कमी क्यों मिलती है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए रासो मे उपलब्ध इतिहास-विरोधी तथ्यों को ही आधार बनाना होगा।

हम यहाँ कविराजा से असहमत होते हुए उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों के आधार पर ही कुशललाभ की साक्षी से यह कहना चाहेंगे कि यह काल रासो का रचना-काल न होकर क्षेपक-काल रहा है। क्योंकि 'पिंगल शिरोमणि' के अनुसार पृथ्वीराज रासो की रचना सं० १६०० वि० से पूर्व हो चुकी थी, इसलिए उपरान्त का जो भी निरूपण मिलता है, वह सब प्रक्षिप्त है। साथ ही वर्णित संदर्भों में कवि का उद्देश्य मेवाड़ का यश-निरूपण स्पष्ट है, अत: यह भी कहा जा सकता है कि मेवाड़ से सम्बन्धित उक्त संदर्भों को मेवाड़ के ही किसी कवि ने रासो में जोड़ दिया है।

डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने कविराजा की भाँति ही एक और सम्भावना व्यक्त करते हुए कहा है कि "राजप्रशस्ति के लिए इतिहास-सामग्री एकत्र करवाने में महाराणा राजसिंह ने बहुत व्यय किया था और बहुत दूर-दूर तक खोज करवाई थी × × × इसी समय चन्द का कोई वंशज अथवा उसकी जाति का कोई दूसरा व्यक्ति रासो लिखकर सामने लाया प्रतीत होता है।"[१७]

रासो के तीन क्षेपक-काल निर्धारित होते हैं—

(१) **प्रथम क्षेपक-काल** सं० १६१२ १६६२ के मध्य अकबर के शासन-काल में।

(२) **द्वितीय क्षेपक-काल**—सं० १७१८ १७३२ वि० के लेखन काल में।

(३) तृतीय क्षेपक-काल—सं० १७५५-१७६७ के मध्य—महाराणा अमरसिंह के शासन-काल में।

ऐसे और भी काल रहे होंगे जिन्हें रासो में उपलब्ध परवर्ती घटनाओं के निरूपण से जाना जा सकता है। उन्हें हम रासो से अलग करके रासो के मूल रूप के निकट पहुँच सकते हैं। यहाँ उपर्युक्त विवेचन से दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(क) अकबर[१८] तथा मेवाड़ के महाराणाओं द्वारा रासो में रुचि लिए जाने पर तत्कालीन कवियों ने पुरस्कार आदि प्राप्त करने के मोह में या अपने-अपने आश्रयदाताओं के वंश को गौरवान्वित करने के मोह में पृथ्वीराज रासो में सम्मिलित कर रासो के आकार में वृद्धि की जिसके फलस्वरूप रासो में परवर्ती घटनाओं एवं इतिहास-विरुद्ध संदर्भों का समावेश हुआ।

(ख) महाराणा अमरसिंह द्वितीय (सं० १७५५-६७) के शासन-काल में पृथ्वीराज रासो की बिगड़ी हुई सामग्री का संग्रह कर उसे क्रमबद्ध रूप प्रदान किया गया।

उक्त निष्कर्षों के आधार पर यह भी सोचा जा सकता है कि उपलब्ध सामग्री को क्रमबद्ध, नियोजित रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में अशुद्ध सवतों का समावेश हुआ हो। हो सकता है संग्रह-कर्ता ने अन्य कवियों द्वारा वर्णित घटनाओं को सच मानते हुए कथासूत्र में पिरोने के लिए अपने ज्ञान या अनुमान के आधार पर सम्वत् आदि का प्रयोग किया हो। इतना निश्चित है कि स० १८०० के आसपास रासो का वृहद् रूप सामने आ चुका था जिसकी पुष्टि जदुनाथ के इस कथन से होती है—

एक लाष रासो कियो सहस पंच परिमान।
पृथ्वीराज नृप को सुजस जाहर सकल जिहान।।५६।। —वृत्तविलास

अन्य सम्भावनायें—यहाँ हम एक और सम्भावना व्यक्त करना चाहेंगे कि रासो की इस आकार-वृद्धि में हो सकता है कि करौली के यदुवंशी नरेशों के आश्रित कवियों की भी भूमिका रही हो।

गार्सां द तासी ने पृथ्वीराज को बयाना का प्रथम राजा कहा है जो अशुद्ध है। बयाना का प्रथम राजा मथुरा का यदुवंशी नरेश विजयपाल (सन् १०८६-११५०) था[१९] जिसका शासन-काल पृथ्वीराज चौहान से पहले था। विजयपाल के जीवन-वृत्त को लेकर भी 'विजयपाल रासो' की रचना हुई है।[१९] तासी के उक्त विवरण से सम्भावना व्यक्त होती है कि विजयपाल रासो और पृथ्वीराज रासो यहाँ एक हो गये हों।

विजयपाल रासो एवं पृथ्वीराज रासो—विजयपाल रासो को पृथ्वीराज रासो से पूर्व की रचना माना गया है, किन्तु उपलब्ध नहीं होने के कारण इतिहासकारों ने मात्र उल्लेख भर किया है।[२०] हमें किन्हीं श्री अर्जुनदत्त सनौठिया द्वारा स० १९६८ (ई० १९११) के लगभग रचित 'श्री यदुवंश कल्पद्रुम' की अपूर्ण प्रति प्राप्त हुई है[२१] जिसमें विजयपाल रासो के लगभग १०० छन्द सम्मिलित हैं जिनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि दोनों ही रासो ग्रन्थों में बहुत कुछ समानता है। यह समानता किसी एक के अनुकरण की सम्भावना को व्यक्त करती है। इस संदर्भ में श्री अर्जुन दत्त का कथन है कि—"आजकल पृथ्वीराज रासा सर्वत्र प्रचलित है, परन्तु उसमें अनेक छन्दों का आशय तथा कविता विजयपाल रासा से ठीक-ठीक मिलती है, इसलिए अनुमान होता है कि पृथ्वी-राज रासा के रचयिता ने यह कविता उसी की ली हो, क्योंकि पृथ्वीराज से महाराजा विजयपालजी का साम्राज्य पहले था।"

डॉ० मोतीलाल मेनारिया न रासो के रचना-काल के संदर्भ में कहा है कि **मिश्रबन्धुओं ने इसका रचना-काल स० १३५५ के** माना है परन्तु अन्य इतना भी

पुराना नहीं है। इसकी भाषा-शैली पर पृथ्वीराज रासो (१८वीं शताब्दी) और वंश-भास्कर (सं० १८८७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है। अतः सं० १९०० के आसपास यह रचा गया है।[22] किसका किस पर प्रभाव है या कौन-सी रचना किससे पूर्व की है, यह तो स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, किन्तु प्राप्त साम्य के आधार पर इतना निश्चित है कि दोनों रासो ग्रन्थों मे से कोई-सा एक-दूसरे का ऋणी है।"

दोनों ही कवियों ने यहाँ कन्नौज के सन्दर्भ में निरूपण किया है। विजयपाल यशोविग्रह पर सेना चढ़ा कर चले हैं तो पृथ्वीराज जयचन्द पर। यहाँ कौन-सा कवि किसका प्रेरक रहा है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह सम्भावना अवश्य व्यक्त होती है कि वर्ण्य-विषय, भाषा-शैली आदि का यह साम्य दोनों ही रचनाओं के आकार-विकार को प्रभावित कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(i) चन्द वरदाई रासो का रचनाकार था।

(ii) चन्द वरदाई एवं उनका रासो सं० १६०० वि० से पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था, अतः उनकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

(iii) अकबर (सं० १६१२-१६६२) के शासन-काल; राजप्रशस्ति (सं० १७१८-३२) के लेखन-काल तथा महाराणा अमरसिंह द्वितीय (सं० १७५५-६७) के शासन-काल में रासो का संकलन तथा पुनर्लेखन हुआ। इन प्रयासों में सम्भवतः रासो के आकार-विकार में वृद्धि हुई।

(iv) मूल पृथ्वीराज रासो संक्षिप्त रहा होगा।

(२) **पिंगल ग्रन्थ**—चन्द वरदाई रचित पिंगल ग्रन्थ की सूचना हमें आचार्य कुशललाभ-कृत 'पिंगल-शिरोमणि' ग्रन्थ से उपलब्ध होती है जिसमें उन्होंने स्थान-स्थान पर पूर्ववर्ती पिंगलाचार्यों का उल्लेख किया है। यह उल्लेख दो रूप में मिलता है—एकमात्र आचार्य-स्मरण के रूप में और दूसरा साक्षी रूप में। चन्द वरदाई का उल्लेख दोनों रूप में किया गया है।

'मेर' निरूपण के अन्तर्गत कुशललाभ ने चन्द वरदाई द्वारा कहे गये संख्या निर्णय को साक्षी रूप में प्रस्तुत किया है—

"घोड़ो किणे रीत सूं चाले जिको साख संख्या निरणै ग्रन्थ माँ है कही छै:। संख्या निरणै कवि चन्द वरदाई रौ कहियौ छै।"[23]

कुशललाभ ने 'गीत प्रकरण' के 'दोढौ कथन' की वार्ता में चन्द वरदाई रचित पिंगल ग्रन्थ की साक्षी में स्पष्ट सूचना देते हुए कहा है कि—

"चन्द वरदाई रासा रौ कर्ता तिण रौ कियौ पिंगल जिण माँ है कहियौ।"[24]

उपर्युक्त साक्षियों से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज रासो के रचनाकार चन्द वरदाई ने पिंगल ग्रन्थ की रचना भी की है। सम्भव है कि यह भी पृथ्वीराज रासो में संकलित हो गया हो।

(३) **गंगा सहस्र नाम**—जदुनाथ ने अपने 'वृत्त विलास' ग्रन्थ में चन्द कवि के संदर्भ मे लिखा है—

फिर तिहि सेई सुरसरी चन्द सुमति अवतार।
स्नान होम जप स्तुति करी अरचा वारंवार ॥५४॥
ह्वै प्रसंग गंगा तबहि सुनि निज नाम हजार।
हार सहित कंकन दए तब तै कहे सहार ॥५५॥

यहाँ छन्द संख्या ५५ में 'सुनि निज नाम हजार' वाक्य से ज्ञात होता है कि चन्द वरदाई ने

२

'गंगा सहस्त्र नाम' की रचना भी की थी। इस प्रकार रासोकार की दो अन्य कृतियों की सूचना और मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन चन्द वरदाई और उनके रासो ग्रन्थ की प्राचीनता को सिद्ध करते हुए कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संदर्भ में शोध की नई दिशाएं प्रदान करता है।

सन्दर्भ संकेत

(१) मेनारिया, मोतीलाल (डॉ०), राजस्थान भाषा और साहित्य, पृ० १२०, १२२।
(२) गुप्त, किशोरीलाल (अनुवादक)—हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, १०५।
(३) (क) शुक्ल, रामचन्द्र (पं०)—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १११।
(ख) सत्येन्द्र (डॉ०)—ब्रज-साहित्य का इतिहास, पृ० १३५।
(४), (५) चाँद (मारवाड़ी अंक), पृ० १४७-१४८।
(६) गुप्त, किशोरीलाल (अनु०)—हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० १०७।
(७) प्राप्ति-स्थान—पुस्तकालय नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, ह० ग्रं० सं० २५६/२५।
(८) ठाकुर, केशव कुमार (अनु०)—राजस्थान का इतिहास (टाड-कृत), पृ० ६७।
(९) मिश्र, केदार (डॉ०)—राजस्थान में उपलब्ध हिन्दी काव्यशास्त्र का सर्वेक्षणात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर), पृ० ४२।
(१०) वही, पृ० २८-२९।
(११) सत्येन्द्र (डॉ०)—ब्रज-साहित्य का इतिहास, पृ० ३६-३७।
(१२) श्यामलदास (कविराजा)—वीरविनोद (प्रथम भाग), पृ० २५४।
(१३) वही, पृ० २७६।
(१४) वही, पृ० २८२।
(१५) परम्परा (१३), पृ० ११०।
(१६) श्यामलदास (कविराजा)—वीर विनोद (प० भा०), पृ० २६३।
(१७) मेनारिया, मोतीलाल (डॉ०)—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १२५।
(१८) शुक्ल, रामचन्द्र (पं०)—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४।
(१९) गहलोत, जगदीश सिंह—राजपूताने का इतिहास (दो भागों में), पृ० ५६७ (प० भा०)।
(२०) (क) मिश्रबन्धु विनोद।
(ख) शुक्ल, रामचन्द्र (पं०)—हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण के वक्तव्य में।
(ग) मेनारिया, मोतीलाल (डॉ०)—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १११-११३।
(२१) अर्जुनदत्त सनैठिया द्वारा रचित 'श्री यदुवंश कल्पद्रुम' (सं० १९६८ के लगभग) की अपूर्ण प्रति प्रस्तुत लेखक के पास उपलब्ध है (श्री प्रताप माथुर, करौली से प्राप्त)।
(२२) मेनारिया, मोतीलाल (डॉ०)—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ११२।
(२३-२४) परम्परा (१३), पृ० ११०, १६३।

व्याख्याता
सेठ जी० बी० पोदार महाविद्यालय
नवलगढ़ (   )

नज़ीर-काव्य में कृष्ण

श्री अब्दुल अलीम

कृष्ण की महिमा, उदारता तथा माधुर्य रूप का वर्णन अगणित कवियों ने किया है, परन्तु प्रकाशित साहित्य में कुछ ही मुस्लिम कवियों की भक्तिमयी कविताएँ उपलब्ध होती हैं। उन कवियों मे कविवर नज़ीर अकबराबादी, रसखान, आलम और रहीम प्रमुख हैं।

कविवर नजीर श्रीकृष्ण के प्रति गहरी भक्तिभावना रखते हैं। उन्होंने कन्हैया का जन्म, कृष्ण की तारीफ, कृष्णलीला, रासलीला आदि कृष्ण-विषयक रचना लिखकर अनूठा कार्य किया है। मुस्लिम कवियों में रसखान के बाद कविवर नजीर अकबराबादी ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने हिन्दू देवताओं, मेलों, पर्वों एवं संस्कारो का वर्णन किया है। कविवर नजीर श्रीकृष्ण के सच्चे भक्त हैं। भक्त को अपने आराध्य की हर आस्था के प्रति भक्ति-भावना होती है। इसी आस्था के कारण वह कृष्ण का वर्णन उनके जन्म से अपनी सुन्दर शैली में करते है —

> है रीत जन्म की यों होती जिस घर में बाला होता है।
> उस मन्डल मे हर मन भीतर सुख चैन दुबाला होता है ।।
> सब बात बथा की भूले हैं जब भोला भाला होता है।
> आनन्द मदीले बाजत है जब भवन उजाला होता है ।।

भादों की अष्टमी को श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। भक्त कविवर नज़ीर उसका वर्णन करते हुए कहते है—

> था नेक महीना भादों का और दिन बुध गिनती आठन की।
> फिर आधी रात हुई जिस दम और हुआ नक्षत्र रोहिनी भी ।।
> शुभ साअत नेक महूरत से वाँ जन्मे आकर कृष्ण जभी।
> उस मन्दिर की अँधियारी में जो और उजाली आन भरी ।।

कृष्ण-जन्म की गाथा कहते-कहते भक्त कवि आत्म-विह्वल हो कृष्ण के अनेक नामों का उल्लेख स्वाभाविक ढंग से कर जाता है—

> फिर आया वाँ एक वक्त जो आए गर्भ से मनमोहन।
> गोपाल, मनोहर, मुरलीधर, श्रीकृष्ण, किशोरन कवलनयन ।।
> घनश्याम, मुरारी, बनवारी, गिरधारी, सुन्दर श्यामबरन।
> प्रभुनाथ, बिहारी कानलला, सुखदायी जग के दुःख भंजन ।।

कविवर नज़ीर कृष्ण को भगवान् का अवतार मानते है और उनके प्रति वह विशेष आस्था अनुराग एवं विश्वास रखते हैं कि वह कठिनाइयों का निवारण करने वाले है और उनका विश्वास है कि जो कृष्ण जी का ध्यान लगाते हैं वह हमेशा सुखी रहते हैं

कविवर नजीर ने सर्वाधिक कविताएँ हिन्दू जीवन एवं भारतीयता के वैभव के सम्बन्ध में लिखी हैं। भारत की विविधता अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और यहाँ की प्राकृतिक विविधता यहाँ के मानव-स्वभाव की स्थायी निधि बन गई है।

इस विविधता ने बाहर से आने वालों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। इस्लामी व्यवस्था पर आस्था रखने वाले लोग भी इस विविधता में विश्वास लेकर ही नहीं, अपितु उसके गीत गाकर उसकी श्रेष्ठता उद्घोषित करने में भी पीछे नही रहे। कविवर नजीर से पूर्व अनेक मुस्लिम कवि भक्ति-भावना से ओतप्रोत हुए और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के पावन चरित्र का आस्वादन कर काव्य-क्षेत्र मे पवित्रता और भक्ति की लहर संचरित कर दी। नजीर का सम्पूर्ण जीवन ही हिन्दुत्व की पावन गंगा में निमज्जित था। इस कृष्ण-भक्ति से उन्हें समाज मे प्रशंसा के स्थान पर प्रताड़ना ही प्राप्त हुई। आधुनिक काव्य से पूर्व के आलोचक उन्हें निम्नतर का कवि समझते थे। किन्तु भक्त अपने यश की चिन्ता न करता हुआ आराध्य के श्रीचरणो में आत्म-निवेदन कर संतुष्टि प्राप्त करना अधिक श्रेष्ठ समझता है। नजीर कृष्ण के प्रेम एवं भक्ति मे अनुरक्त थे, उनकी आराधना उनके जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य थी और कृष्ण का जय-जयकार करने मे ही अपने जीवन को सार्थक मानते हैं—

सब मिल के यारों कृष्ण मुरारी की बोलो जै।
गोविन्द, छैल बिहारी की बोलो जै।
दधिचोर, गोपीनाथ बिहारी की बोलो जै।
तुम भी नजीर कृष्ण बिहारी की बोलो जै।

भक्तकवि आत्मविभोर होकर अपने आराध्य के साथ तादात्म्य कर लेता है। भक्त अपने आलम्बन के ऊपर पूर्ण विश्वास करता हुआ आत्मसर्मण करता है। उसका विश्वास है कि इसी कृष्ण के स्मरण से मानव-जीवन के सम्पूर्ण दुःख दूर हो जायेंगे। इसीलिए भक्तकवि उन्हें कभी मुरलीधर, मनमोहन, घनश्याम, गिरधारी, दुःख-भंजन, अवतारी आदि अनेक नामो से स्मरण करता है। जब भावापन्न भक्त के हृदय में केवल अपने आराध्य की चाहत शेष रह जाती है, उस समय सम्पूर्ण बाह्य जगत् से नाता तोड़कर आत्म-केन्द्रित हो हरि के द्वार बैठकर आनन्दानुभव कर सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन करता है और उसे किसी की चिन्ता नहीं रहती। भगवान् का भरोसा ही एकमात्र उसके जीवन में रहता है। नजीर इसका सुन्दर वर्णन करते हैं—

सुख चैन से बैठे हरि के द्वारे, पर सन्तोष मिला आनन्द हुई
× × ×
कुछ फिक्र न थी सन्देह न था हरिनाम भरोसे जीते थे।

कविवर नजीर ने कृष्ण की मंगलकारी मूर्ति के दर्शन किए हैं, उनके काव्य में कृष्ण की सौर्यपूर्ण और भक्तवत्सलतापूर्ण प्रतिमा की आराधना दिखलाई पड़ती है। कविवर नजीर कृष्ण के उस रूप का अनावरण ही करते हैं जो भक्त का दुःखमोचन करने में समर्थ हो सकता है। यही कृष्ण की लोकरंजनकारी प्रतिमा, जो कवि नजीर के मानस-पटल पर किंचित् उभर आयी थी, आधुनिक काल में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो सकी। कवि का पूर्ण विश्वास है कि कृष्ण का जन्म जग के दुःख-भंजन के लिए हुआ है क्योंकि वह स्वयं ज्योतिस्वरूप हैं—

जाहिर से सुत वह नन्द जसोदा के आप थे
वरना वह आप माई थे और आप ही बाप थे।

पर्दे में बालपन के यह उनके मिलाप थे
ज्योतिस्वरूप कहिये जिन्हें सो वह आप थे।

हम देखते हैं कि कविवर नजीर कृष्ण की भक्ति में ही अपने जीवन को सफल समझते हैं। भक्ति के लिए अवतारवाद में विश्वास रखना आवश्यक है, क्योंकि भक्ति तो भगवान् के सगुण रूप की होती है, इसीलिए नजीर भी अवतारवाद में विश्वास रखते हैं—

है कहीं राम, और कहीं लक्ष्मण कहीं कच्छमच्छ और कहीं रावण।
कहीं वाराह, कहीं मदन मोहन, कहीं बल्देव और कहीं श्रीकृष्ण।

इस प्रकार यह कहने में कोई संकोच नहीं कि कविवर नजीर अकबराबादी भारतीय भक्ति-परम्परा के कृष्ण-भक्तों के अन्तर्गत सदैव स्मरण किए जाते रहेंगे।

●

शोधछात्र
हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

सहजोबाई

▣

श्री श्रीकान्त जोशी

सहजोबाई योगमार्गी वैष्णव भक्त महात्मा चरणदास की शिष्या थी। महात्मा चरणदास के समान सहजोबाई की जन्मभूमि भी राजस्थान में मेवाड़ के निकट डेहरा गाँव थी। जाति की दृष्टि से भी इनमें और इनके गुरु चरणदास में समानता थी, दोनों ही दूसर बनिया जाति के थे। महात्मा चरणदास अपनी जन्मभूमि को छोड़कर दिल्ली मे स्थायी रूप से रहने लगे थे और इसी कारण सहजोबाई भी दिल्ली में ही अपनी गुरु बहिन दयाबाई के साथ उनकी सेवा में निरत रहा करती थीं।

सहजोबाई के जन्म-संवत् और मृत्यु-सवत् की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। अनुमानतः उनका जीवन-काल संवत् १७४० से संवत् १८२० तक के मध्य माना जाता है। सहजोबाई के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित अन्य जानकारी का भी नितान्त अभाव है। उनके एकमात्र ग्रन्थ 'सहज प्रकाश' से उनके गुरु महात्मा चरणदास के जीवन पर तो प्रकाश पड़ता है, किन्तु उनके स्वयं के जीवन की कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

> फाग महीना अष्टमी, सुकल पाख बुधवार।
> संवत अठारह सैं हुते, सहजो किया विचार।।
> गुरु अस्तुति के करन कू, बाढ़्यो अधिक हुलास।
> होते-होते हो गई, पोथी सहज-प्रकाश।।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि संवत् १८०० में इनके एकमात्र ग्रन्थ 'सहज प्रकाश' की रचना सम्पूर्ण हुई, साथ ही इस ग्रन्थ-रचना का मूल अभिप्रेत गुरु महात्मा चरणदास की स्तुति करते हुए ईश्वर तक पहुँचना था।

महात्मा चरणदास के प्रति सहजोबाई की अटूट निष्ठा थी। कई चौपाइयों में उन्होंने अपने गुरु का स्मरण श्रद्धा और समर्पण की अत्युच्च भावभूमि पर किया है—

> चरणदास के चरण पर सहजो वारै प्रान।
> जगत व्याध सूं काढ़ि कर राख्यो पद निर्वाण।।

इनके गुरु की उपासना में कहे गये दोहों में और बहुत-सी चौपाइयों में निर्गुण भक्त कवियों का लहजा प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए सहजोबाई का यह दोहा द्रष्टव्य है—

> सब परबत स्याही करूँ, घोलूं समुन्दर जाय।
> धरती का कागद करूँ, गुरु-अस्तुति न समाय।।

कबीर ने भी लिखा है—

> सब धरती कागद करूँ लेखन सब बनराय।
> सत समुद्र की मसि करू गुरु-गुन लिखा न जाय

उपर्युक्त दोनों दोहों मे अद्भुत साम्य है। और भी ऐसे अनेक दोहे हैं जिनमें भाव ही नही, भाषा का भी साम्य प्राप्त होता है। कबीर ने गुरु और गोविन्द से जिस प्रकार गुरु को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उस प्रकार सहजो ने भी—

हरि ने मोसूं आप छिपायो। गुरु दीपक दे ताहि दिखायो ॥

सहजोबाई की गुरु-महिमा सम्बन्धी चौपाइयो को पढ़ते हुए अनुभव होता है कि उनके लिए 'गुरु' सम्भवतः कबीर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने यहाँ तक लिख दिया है कि—

राम तजूं पर गुरू न बिसारूँ।
गुरू के सम हरि को न निहारूँ ॥

इन पंक्तियों को पढने से प्रतीत होता है कि भगवान् के मायारूप और मायातीत स्वरूप मे सहजो ने अन्तर नही मानना चाहा है, क्योंकि उनका मायारूप अन्ततः उन्ही की अपनी सृष्टि ही तो है। उधर कबीर ने माया को एक स्वतन्त्र शक्ति मानकर उससे बचने की निरन्तर चेतावनी दी है—

कहत कबीर सुनो भाई साधो।
इस ठगनी से रहो हुसियार ॥

गुरु-महिमा के अतिरिक्त 'सहज-प्रकाश' के अन्य विषय हैं—वैराग्य, नाम, माहात्म्य, नन्हा महाउत्तम, प्रेम, साधु-महिमा, साधु लक्षण, समर्पण और वृद्धावस्था।

अपने वैराग्य के पदों में सहजोबाई ने संसार से विरक्त रहने का निर्देश किया है। कारण स्पष्ट है, इस संसार में सभी स्वारथ से लगे हुए है, ये जीवन भर बैल की तरह इस देह को जोतते रहते हैं और इनका साथ भी कितना थोड़ा है, बस जीते जी का, मर जाने पर तो ये सपनों में भी देखना नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें हैं, मर कर कोई लौट नहीं सकता, रोने-गाने से भी नहीं लौटता और जो मरा है, वह शायद यह कहकर मरा है कि अब सम्हल तेरी खुद की बारी है। वैराग्य की इसी प्रकार की भावनाओं को कवयित्री ने कहीं-कहीं बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति दी है—

बैठि-बैठि बहु तक गये, जग तरवर की छांहि।
सहजो बटाऊ बाट के, मिलि-मिलि बिछुडत जांहि ॥

इन पंक्तियों में भक्ति और काव्य का सुखद संगम है। वैराग्य-सम्बन्धित एक दोहे में बडी मौलिक उपमा है—

जैसे संडसी लोह की, छिन पानी छिन आग।
ऐसे दुख-सुख जगत् के, सहजो तू मत पाग ॥

'नाम का संत' से अन्तर्गत कवयित्री ने नाम के महत्त्व की चर्चा करते हुए एक बात खास कही है कि नाम-स्मरण खुला व्यापार नहीं है, यह तो भीतर की बात है—

राम नाम यों लीजिए जानै सुमिरनहार।
सहजो वे कर्तार ही, जानै न संसार ॥

सहजो ने बड़प्पन से अधिक छोटेपन को महत्त्व दिया है। उन्हें ज्ञात था कि छोटे व्यक्ति का अपना एक विशेष बडप्पन होता है जो किसी भी तरह उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि—

नन्हीं चींटी भवन में जहाँ-तहाँ रस लेह।
सहजो कुंजर अति बडो सिर पै डारे खेह ॥

एक बात और सहजो कहती है कि जिसे अपने बड़प्पन का गर्व है वह अपने गर्वसहित यहीं धरा पर रह जायेगा, साहब तक वही पहुँचेगा जिसे अपनी छुटाई पर प्यार होगा

बड़ा न जाने पाइ हैं, साहेब के दरबार।
द्वारे ही सूँ लागि है, सहजो मोटी मार॥

विनम्रता के महत्त्व को इस दोहे में मधुर काव्य-देह प्राप्त हुई है—

भली गरीबी नवनता, सके नहीं कोइ मार।
सहजो रूई कपास को, काटै न तरवार॥

'प्रेम' सहजोबाई के अनुसार एक दीवानगी की अवस्था है। इस अवस्था में पहुँचकर न कोई रंक रहता है, न भूप; न जाति रहती है, न बरन, सारा भेदभाव जाने कहाँ गायब हो जाता है—

प्रेम-दिवाने जो भये, मन भयो चकनाचूर।
छके रहत घूमत रहैं, सहजो देख हजूर॥
प्रेम दिवाने जो भये, पलटि गयो सब रूप।
सहजो दृष्टि न आवई, कहाँ रंक, कहाँ भूप॥

प्रेम की इस दीवानगी में डगमग होकर गिर जाने का भी भय नहीं है, क्योंकि—

प्रेम-दिवाने जो भये, सहजो डिगमिग देह।
पाँव पड़ै कितकै किती, हरि सम्हाल तब लेह॥

सहजो के दोहों और पदों में सगुण और निर्गुण दोनों ही पक्षों का समन्वय मिलता है। इन दोनों का उन्होंने भगवान् के दो रूपों की मान्यता दी है—

नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कुछ ब्रह्म है, हरि परगट, हरि गुप॥

(उसका नाम नहीं है, किन्तु सभी कुछ उसी का नाम ही तो है, उसका रूप नहीं है, किन्तु सभी कुछ उसी का रूप ही तो है। सहजो कहती हैं, हरि प्रकट भी है और गुप्त भी है। ये दोनों उसी ब्रह्म के रूप हैं।)

सभी सन्त कवियों ने सत्संग की महिमा का गायन किया है। सहजो की भी मान्यता है कि सत्संग अथवा साधु की महिमा अनिर्वचनीय है। साधु ही से गुरु की प्राप्ति होती है और सब सन्देहों का निवारण होता है। साधु-प्राप्ति बड़े भाग की बात है। जहाँ साधु अथवा सत्संग है, वहीं चाँदनी है, अन्यत्र सर्वत्र अँधेरा है। सत्संग गंगाजल के समान है—

जो आवै सत्संग में जाति बरन कुल खोय।
सहजो मैल कुचैल जल, मिलै सु गंगा होय॥

सत्संग के महत्त्व को सावयव रूपक के माध्यम से बहुत सुन्दर रूप में सहजो ने यों बखाना है—

साध वृच्छ, बानी कली, चर्चा फूले फूल।
सहजो संगति बाग में नाना फल रहे झूल॥

सत्संग की पहचान के बिना सत्संग और कुसंग का ज्ञान नहीं हो सकता अत सहजो ने सत्संगी की का भी अपने दोहों में उल्लेख किया है सबसे बड़ा सत्संगी भक्त उनके

शब्दो मे इस प्रकार का होता है जो समाधि मे सोता हो, जागृति मे हरिनाम लेता हो, जिसकी बोली मे हरिनाम कथा हो और जो निष्काम भाव से भक्ति करता हो

जो सोवे तो सुन्न मे, जो जागे हरिनाम।
जो बोले तो हरि कथा, भक्ति करे निहकाम॥

संक्षेप में सहजोबाई का काव्य अधिकांश संत कवियों के समान उनके भक्त को ही अधिक उजागर करता है। मीरां के पदों में भक्ति और काव्य की जो प्रतिद्वंद्विता है, वह सहजो में भी मिलती है, किन्तु उनका काव्य उनके सेविका रूप को अधिक शक्ति के साथ प्रकट करता है। सगुण-निर्गुण का जो समन्वय उन्होंने किया है, वह उल्लेखनीय है। उन पर कबीर के पदों का काफी प्रभाव है, इसी से उनकी अभिव्यक्ति में भी उसी प्रकार का खुलापन मिलता है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यह प्रभाव अभिव्यक्ति पक्ष में ही है, वस्तु पक्ष में उतना नहीं। सहजो का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्पष्ट है।

सहजो उच्चकोटि की भक्त आत्मा थीं। उनके अनेक पदों में इस आत्मा के दर्शन होते हैं। उनका ज्ञान-दृष्टि से आत्म-साक्षात्कार करने का उपदेश सदा स्मरणीय रहेगा—

बाबा काया-नगर बसावो, ज्ञान दृष्टि सूं घट में देखौ
सुरति निरति लौ लावो, बाबा काया नगर बसावो।

जवाहरगंज,
खण्डवा-४५०००१ (म० प्र०)

बिम्ब :
संत-साहित्य के संदर्भ में

□

कु० रमोला रूथ लाल

हिन्दी का 'बिम्ब' शब्द अंग्रेजी भाषा के Image शब्द का रूपांतर है। पाश्चात्य बिम्बवादियों की दृष्टि में यह शब्द किसी वस्तु का प्रतिरूप होने के साथ ही साथ विभिन्न ऐन्द्रियानुभूतियों से भी जुड़ा हुआ है। किन्तु कुछ भारतीय विद्वानों के अनुसार 'बिम्ब' शब्द को 'चित्र', 'प्रतिबिम्ब', 'मूर्त' अथवा 'मूर्त रूप' आदि विभिन्न शब्दों से पृथक् श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय आदि से जोड़ना असंगत है तथा 'बिम्ब' शब्द के मूल स्वरूप के सर्वथा प्रतिकूल है। उनके विचार में गंध एवं ध्वनि बिम्ब नहीं, संस्कार हैं। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि संस्कारों का अस्तित्व व्यक्ति के अचेतन में है जो हमारे व्यवहार में श्रद्धा, शोक, हास्य, नश्वरता आदि अशरीरी सूक्ष्म भावों को भी मूर्त करने में, उनका बिम्ब बनाने में समर्थ होते हैं। अतः बिम्ब मात्र चाक्षुष नहीं है, किन्तु चाक्षुष होना उसकी एक अनिवार्य शर्त अवश्य है। यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि गुलाब के फूल का बिम्ब तो हमारे मन में बने, किन्तु उसकी सुगंध हम तक न पहुँचे। गुलाब के फूल का वर्णन सुनने या पढ़ने के क्षणों में गुलाब अपनी सम्पूर्णता के साथ हमारे हृदय-पटल पर अंकित होता है। एक क्षण को गुलाब के रंग का प्रश्न बिम्ब-रचना में बाधक सिद्ध हो, किन्तु उसकी गंध उससे पहले हमारे दिलो-दिमाग में बस जायेगी।

व्यक्ति समाज से, समाज की विभिन्न इकाइयों से संस्कार ग्रहण करता है। समाज प्रकृति से अलग नहीं, वरन् प्रकृति की गोद व्यक्ति का समाज है। जहाँ से जुटाये गये संस्कार अचेतन में सुप्त रहते हैं जो कल्पना के क्षणों में चेतन हो कभी मस्तिष्क-पटल पर, कभी कर्ण-पटल पर और कभी आँखों के सामने साकार हो उठते हैं, धुँधले नहीं—वरन् अपनी समग्रता में रंग-ओ-बू के साथ। अतः बिम्ब मात्र चित्र नहीं, कल्पना नहीं, अनुभूति भी है जो अचेतन पदार्थों, विचारों, भावों के स्पर्श-स्मरण से जीवन्त हो उठती है। कल्पना यदि बिम्ब की उत्पादिका है तो अनुभूति उसकी संगिनी है। उसके अभाव में बिम्ब आकर्षणशून्य सिद्ध होता है—

'सूनी साँझ में डूबा उदास वंशी का वह स्वर'

पंक्ति धुंधलका, नीरवता और प्रकृति की एकतानता के साथ ही कभी सुने वंशी के स्वरों को भी कानों में जगा जाती है। यह अवश्य होना चाहिये कि जो भी बिम्ब हमारे सामने प्रस्तुत हो, वह हमारे अचेतन के कोष में अवश्य ही संचित हो, अन्यथा वंशी स्वरहीन ही रहेगी। यदि हमने वंशी के स्वरों को कभी नहीं सुना तो बहुत सम्भव है कि वह सूनी साँझ अपनी पूरी उदासी की छाप हम पर न छोड़ सके।

इस प्रकार बिम्ब किसी पदार्थ का भाव-गर्भित शब्द-चित्र (द पोइटिक इमेज; अष्टम संस्करण- सी० डी० लेविस) मानसिक या मानसी प्रतिकृति (शार्टर ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी) व्यक्ति अथवा पदार्थ की प्रतिकृति या मूर्त और दृष्ट वेब्सटर्स थर्ड न्यू डिक्शनरी)

तथा कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति है जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है (चैम्बर्स ट्वेंटिएथ सेन्चुरी डिक्शनरी)। बिम्ब पदार्थ की वह प्रतिकृति या प्रतिच्छाया है जो विभिन्न इन्द्रियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है और जिसके मूल में भाव की प्रेरणा विद्यमान रहती है। कल्पना की सृष्टि होने के कारण इसका सम्बन्ध अलंकार, ध्वनि, वक्रता के साथ अधिक तथा रीति से कम है—

'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्'। (साहित्यदर्पण, १०/५१)

मन द्वारा गृहीत किसी स्वरूप को जब कवि निजी भाव, विचार व कल्पना द्वारा आवश्यक शब्दों के माध्यम से मूर्त करता है तो पुनः प्रस्तुति होने के कारण वह स्वरूप नितांत शुद्ध न हो कवि के संस्कारों को भी आत्मसात् कर उस वस्तु की प्रतिकृति बन जाता है। यह रचनाकार का कौशल होता है कि वह अपने मन-मस्तिष्क में बसे उस स्वरूप को किस सीमा तक साकार कर सका है।

मनोवैज्ञानिक बिम्बों का उद्गम, अनुभूति व आनन्द स्थल मस्तिष्क या मन होता है, अतः वह अमूर्त होता है। किन्तु काव्य-बिम्ब उस समस्त प्रक्रिया से होते हुए शब्दों से कागज पर एक चित्र खींचता है। अतः वह सर्वदा मूर्त होता है। इसलिए उसमें सक्रियता, सर्जनात्मकता तथा राग (संगीत) की प्रेरणा विद्यमान रहती है। काव्य-बिम्ब के लिए प्रसंगगत सार्थकता अनिवार्य है क्योंकि जिस किसी भी वस्तु पर विश्वास कर हम अभिव्यक्ति देते हैं, वह सत्य का प्रतिबिम्ब होती है। विचार, भाव व कल्पना के सहारे काव्य में सौन्दर्य की खोज करते समय प्रत्येक व्यक्ति के जुदा-जुदा सांस्कृतिक एवं भौतिक परिवेश अपना पृथक् बिम्ब निर्माण करते हैं। काव्य-बिम्ब अभिधा से पूर्ण मूर्त होता है। कल्पना को सशक्त बनाता है। "कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके हर शब्द सस्वर होने चाहिए। शेष की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े।" (सुमित्रानन्दन पंत, गद्यपथ, १९५३, प्रयाग, पृ० १७-१८)

संत-साहित्य में उपलब्ध बिम्बों को दो प्रधान वर्गों (ऐन्द्रिय व मानस) में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन दो प्रधान वर्गों के अन्य अनेक बिम्ब वर्ग भी बनाये जा सकते है, किन्तु बिम्ब-सम्बन्धी प्राप्त सामग्री के आधार पर ऐन्द्रिय बिम्बों के स्थूलतः दो उपवर्ग हैं। प्रथम वे बिम्ब जो दृश्य हैं, दूसरे वे जो अन्य प्रकार की ऐन्द्रिय संवेदनाओं से जुड़े हुए हैं। ऐन्द्रिय दृश्य बिम्बों मे प्राकृतिक, सामाजिक, अलौकिक व पौराणिक बिम्बों को रखा गया है। यह बिम्ब अन्य प्रकार की संवेदनाओं से रहित नहीं है, किन्तु यह विभाजन बिम्बों मे दृश्य गुण की प्रधानता के आधार पर किया गया है। अन्य संवेद्य बिम्बों में आस्वाद्य, गंध, ध्वनि, स्पर्श गुणसम्पन्न बिम्बों को रखा गया है। मानस बिम्बों के दो उपवर्ग हैं। प्रथम भाव बिम्ब, जिनमें विविध भावों (स्थायी, संचारी, अनु-भावों) को रखा गया है। संतों का प्रिय विषय निर्वेद जगाना व प्रिय स्वामी की सन्निकटता प्राप्त करना है। अतः शृंगार के संयोग व वियोग के सुन्दर बिम्ब भक्ति व शांत भाव की पुष्टि हेतु बनाये गये हैं। जीवन-जगत् की असारता में निर्वेद, जुगुप्सा, शोक आदि भाव-बिम्ब भी सुन्दरता से चित्रित किये गये हैं। मानस बिम्बों की दूसरी कोटि है विचार-प्रधान बिम्बों की। इन बिम्बों में विचार-तत्त्व प्रधान है। ऐन्द्रिय व मानस बिम्बों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का बिम्ब-विभाजन भी है बिम्बों का इन बिम्बों में उपर्युक्त बिम्बों के अनेक गुणों (दृश्य स्पर्श, ध्वनि आदि) का योग है। इसकी एक रूपरेखा अग्र प्रकार से बनाई जा सकती है
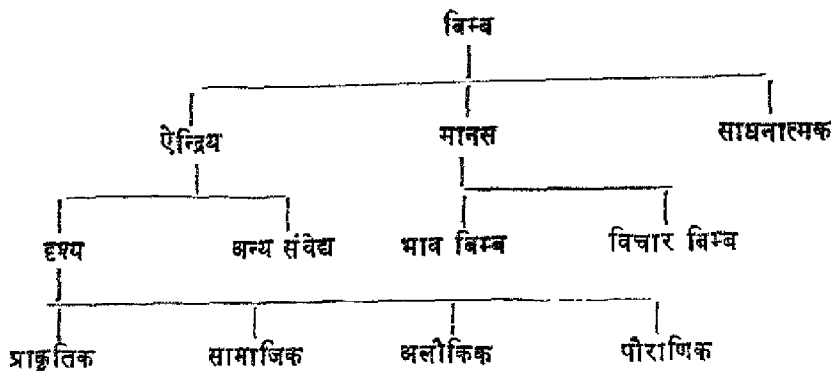
संत कवियों की प्रकृतिगत बिम्ब-योजना में पेड़-पौधे, कीट-पतंगे, जीव-जंतु, मेघ-मेह आदि प्रमुख पक्ष मुख्य सहायक रहे हैं। जीवन, गति, सौन्दर्य, नाद सब का इसमें सुन्दर योग है—

जैसे बाज तीतर कूं, दाबत है अचानक
जैसे बक महरी कूं, लीलत लपाक दै।।
जैसे मच्छिका को ध्यान, मकरी करत आय
जैसे साँप मूषक को ग्रसत गपाक दै।। (पृ० २५, सुन्दरदास)

सामाजिक बिम्ब तत्कालीन समाज की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करते हैं। संतों का समय भारतीय इतिहास में मुस्लिम काल कहा जाता है। अजान के स्वर सुनाई पड़ते हैं। मुसल्ले पर नमाज पढ़ी जाती है। कर्मचारी नीले वस्त्र धारण करते हैं। जबान में भी बदलाव आ गया है। ऐसे वातावरण में संत जिस समाज का चित्रण करने में प्राथमिकता देते हैं, वह है हिन्दू समाज। अतिथि-सत्कार, विवाह, दाम्पत्य, सज-सँवर कर नजारा मारने वाली स्त्रियों, पण्डित, ब्राह्मण, मौलवी, पीर, होली, चाक, नट, गन्ने के रस के पेरे जाने के बहुत से बिम्ब बनते दिखाई देते हैं—

आज मोर अँगना सन्त चलि आये;
कौन करौं मिहमनिया ।।१।।
निहुँरि निहुँरि मैं अँगना बुहारों;
मातो मैं प्रेम लहरिया ।।२।।
भाव के भात प्रेम के फुलका;
ज्ञान के दाल उतरिया ।।३।।

(प्रेम का अङ्ग, शब्द १, पृ० १४, दूलनदास जी की बानी)

'तन का चरखा नाम का टेकुआ, प्रेम की पिउनी करि अनुराग।
सतगुर धोबी अलख जुलाहा, मलि मलि धोवै करम के दाग।।'

(पृ० २१, फुटकल, शब्द २, झूलना, दूलहदास)

समाज को विभिन्न बिम्बों के माध्यम से कविता में उतारते समय पलटू, सहजो, नानक आलोच्य दृष्टि लेकर चलते हैं, जबकि सुन्दर, दया, दूलन, गुलाल में यह यथार्थ सौन्दर्यपरक, दया व करुणा से ओतप्रोत है। कबीर दोनों दृष्टि लेकर चलते हैं। जनभाषा में प्रस्तुत ये बिम्ब अपनी सादगी के कारण कविता का अभिधात्मक शृंगार करते हैं।

अलौकिक तत्व 'साहब के मर्म में बिम्बों में दिखाई देता है। शून्य, श्वास-

साधना, सुरति-निरति आदि की चर्चा में चमत्कृत हो अलौकिकता के दर्शन होते हैं। अलौकिक तो केवल एक है जिसने यह लोक बनाया—

'सुरुख तो उसका चिहरा है,
आफताब तसद्दुक लाख है जी।'
(पृ० ५६, ५५ भेद, भाग २, पलटूदास)

× × ×

बट के बीज जैसा आकार। पसर्‌यो तीन लोक पासार ॥५॥ (पृ० १, रैदास)

पौराणिक पात्रों के उल्लेख में कहीं-कहीं उनसे जुड़ी घटनाएँ, कथाएँ भी सामने आई हैं। द्रौपदी-चीरहरन, गोवर्द्धन-धारण, गोपालक कृष्ण, गज-ग्राह प्रसंग के सुन्दर बिम्ब मिलते हैं।

हरी हरी कहि द्रौपदी, बाढ़ो चीर अपार।
लज्जा राखी सभा में, दुसासन गयो हार ॥६७॥
(पृ० २०, दयाबाई की बानी, विनयमालिका)

संत-साहित्य में उपलब्ध चाक्षुष बिम्बों के अतिरिक्त प्राप्त अन्य संवेदित बिम्बों में आस्वाद्य, गंध, स्पर्श्य व ध्वनि बिम्ब हैं। इनकी संख्या कम है। कमल, कस्तूरी, चन्दन की सुगन्ध का बिम्ब, भोजन के बिम्ब, वाद्य बिम्ब के सुन्दर चित्र मिलते हैं—

कमल-पत्र की बासना जाको कवन सरूप।
महके गंध अपार गति सूंघत बड़े-बड़े भूप ॥२८॥
(पृ० ८१, साध महिमा का अंग, साखी २८, गरीबदास जी की बानी)

संतों ने दाम्पत्य-भाव, निर्वेदभाव, विरहावस्था, क्षणभंगुरता के सुन्दर चित्र बनाये हैं—

'मैं बिरहिनि ठाढ़ी मग जोऊँ राम तुम्हारी आस'
(पृ० १०, पद १५, क० ग्र० प्रेम)

संतों ने जहाँ कहीं हठयोगी साधना की चर्चा की है, कई साधनात्मक बिम्ब बने हैं। यह बिम्ब चाक्षुष होने के साथ ही ध्वनि गुण-सम्पन्न भी हैं। साधनात्मक बिम्ब की इस प्रकार दृश्य व ध्वनि दो कोटियाँ हैं। साधनात्मक दृश्य बिम्ब उतने स्पष्ट नहीं हैं जितने कि साधनात्मक ध्वनि बिम्ब। इसका मूल कारण है साधारण जन का इस प्रक्रिया से अनभिज्ञ रहना। स्वयंभू में चित्त को मनमुखी कर कुण्डलिनी को जगाना, षटचक्र-भेदन की मंजिल को तय करना, अनाहद नादों को सुनना, सहस्रदल कमल में प्रवेश कर शून्य में अमृतरस पान करना इसके विकट चरण हैं जिसे साधक या इस साधना से परिचित जन ही कर सकते हैं। सन्तों ने इस प्रक्रिया की सहज बानगी के लिये लोकप्रचलित पात्रों और व्यवहारों को उपादानस्वरूप ग्रहण किया है जो पाठक को सतही, किन्तु दर्शन अवश्य करा देते हैं। जहाँ कहीं उस साधना के रूप में साधक को शून्य के सौन्दर्य से अभिभूत दिखाया गया है, वहाँ साधक-भक्त की कल्पना-शक्ति और अनुभूति से पाठक भी कुछ सुन्दर बिम्ब अवश्य ही ग्रहण करता है—

'खन गरजै, खन बिजुली चमकै।'
(धनी धरमदास की शब्दावली, पृ० १३, विरह और प्रेम का अंग)

× × ×

'बाजत ताल मृदंग झांझ, डफ अनहद घोर निसानी।'
(पृ० ५६, होली ३, बसंत और होली, धनी की शब्दावली)

× × ×

'लवकै बिजुली मोती बरसै, चूंगत चुंगत अघावो ।।'

(पृ० १४, चेतावनी का अंग, शब्द ४, गुलाल साहिब की बानी)

सन्तों के बिम्ब सहजता व सादगी के गुण से सम्पन्न हैं। अपनी ओजस्वी वाणी से इन संतों ने जीवन व जगत् और साधना व संयम के अनेक सुन्दर सशक्त चित्र खींचे हैं। "संतों में रेखाओं और रंगों से बने हुए चित्रों के रचना-विधान का कौशल भले ही न रहा हो, पर उनमें साधारण चित्रकारों की चित्रकला तो क्या, उस परम विराट की चित्रकला के समझने तथा उसके रूपों, रंगों, भाव-भंगिमाओं आदि के समझने और समझाने की पूर्ण क्षमता विद्यमान थी।" (संत-साहित्य : संतों की भाषा और संस्कृति, डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ० ३८४-३८५)। अपने कथ्य की पुष्टि हेतु बिम्ब ढूंढ़ने वे कहीं दूर नहीं जाते, अपने आसपास के उपादानों से वे अपनी बात को बेधड़क सामने रखते हैं। अपने इन बिम्बों से संतों ने अपने सम्प्रदाय के विचारों, सिद्धान्तों, उपदेशों और आदर्शों को जनमत तक पहुँचाने का कार्य किया है। ये बिम्ब भारतीय लोकजीवन की सुन्दर झाँकी हैं।

जमुना क्रिश्चियन इण्टर कॉलेज,
कैम्पस, द ओल्ड लिटिल
इण्डिया बिल्डिंग, इलाहाबाद

महाकवि निराला की 'सरोज-स्मृति' : एक मूल्यांकन

□

श्री मायापति मिश्र

वायवीय उड़ानों के छायावादी कवि ने जब धरती से जुड़कर मानवीय संवेदना को अपनाना चाहा तो जगत् का जंजाल उसे जकड़कर निराशोन्मुख करने लगा। यही कारण है कि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी चारों छायावादी स्तम्भ अपने लेखन के अवसान-काल से कुछ पहले ही पलायनवादी प्रवृत्ति से प्रेरित नजर आये। इतना कुछ होने पर भी इनके पलायन में निराशा कम और मानवीय संवेदना से ओतप्रोत यथार्थ अधिक है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस यथार्थ वर्णन में मानवीय संवेदना की अधिकता के कारण कवि के मन की तड़पन हारी-थकी-सी जीवन के प्रति विश्वास खो बैठी और आस्था के नाम पर परम सत्ता में लीन होने के लिए कवि को मानसिकता या तो बेचैन हो गयी या फिर अपने को ही कोसने लगी। ऐसे में महाकवि निराला की स्वाभिमानी वृत्ति जीवन के झटके में थपेड़े खाती हुई कभी समस्याओं के सामने सीना तानकर खड़ी हो जाती तो कभी सामाजिक विषमता और मानवीय संवेदना के प्रति चीख भरकर कराह उठती। इसी यथार्थ-बोध की अस्थिरता ने कवि को 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज-स्मृति' जैसी लम्बी एवं प्रबन्धात्मक कविताओं के प्रणयन की मानसिकता प्रदान की। कलेवर में लघु, किन्तु लघु-प्रबन्धों की सरणि में अग्रणी 'सरोज-स्मृति' में कवि की अन्तर्वेदना का चीत्कार इतने करुण रूप में मुखर होकर उभरा है कि वह पाठक को सहज में ही आकर्षित कर लेता है।

'सरोज-स्मृति' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस कविता की रचना कवि ने अपनी एकमात्र पुत्री 'सरोज' की मृत्यु के उपरान्त उसी के दुःख में अभिभूत होकर किया। सन् १९३२ में सरोज का महाप्रयाण हुआ और उसके दो वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १९३५ इस कविता का रचना-काल माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में निराला जी ने एक स्थान पर स्वयं लिखा है—

'युग्म वर्ष बाद जब हुई विकल।'

सरोज-स्मृति एक शोकगीत है। इस विषय में डॉ० विजयपाल सिंह ने एक स्थान पर लिखा भी है—" 'सरोज-स्मृति' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शोकगीत है जो कवि की युवा कन्या सरोज की मृत्यु पर लिखा गया है। कवि के हृदय की सारी संवेदना करुणा के रूप में प्रवाहित हो गयी है।" इसके साथ-साथ कविता में अक्खड़ और अपराजेय निराला जी का पराजित एवं निराश स्वर भी सुनाई देता है—

धन्ये मैं पिता निरर्थक था
कुछ भी तेरे हित न कर सका
× × ×
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ समर

महाकवि निराला के उक्त विचारों के आधार पर कुछ विद्वान् 'सरोज-स्मृति' को विशुद्ध आत्मपरक व्यक्तिवादी कविता मानते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि इस कवित मे कवि ने जहां एक ओर पुत्री सरोज के लिए आँसू बहाया, अपनी आर्थिक असमर्थता पर तरस खाया, वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों को भी उजागर किया। लोकमंगल ही कविता का मूल धर्म है। इस धर्म का पालन सरोज-स्मृति में पूरी तरह से किया गया है।

रचना-कौशल एवं प्रबन्ध-सौष्ठव में प्रभावोत्पादक महाकवि निराला की 'सरोज-स्मृति' हिन्दी साहित्य की चिर सर्जना बन गयी है। मानवीय सवेदना के विविध पहलुओ को उजागर करते हुए कवि ने अपनी पुत्री सरोज के बाल्यकाल से लेकर तरुणाई तक का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है। ऐसे वर्णन काव्य-रूप के समृद्ध साक्षी हैं।

महाकवि निराला द्वारा अपनी ही कन्या की तरुणाई का मनोरम चित्रण कहीं-कहीं रीतिपरक होकर भी पवित्र है। यथार्थ चित्रण के साथ ईमानदारी की भावना ही ऐसे शृंगारिक चित्रणों को निजी कन्या के यौवन-वर्णन में स्थान दिला पायी है। इसका एक और कारण यह भी हो सकता है कि—"निराला ने नारी को उसके वास्तविक रूप में ही देखा है, न उसे रीतिकालीन कवियो की भाँति क्रीत दासी बनने दिया, न अन्य छायावादी कवियों को भाँति अप्सरा।"

—डॉ० रामविलास शर्मा

वैयक्तिक पृष्ठभूमि पर आधारित होकर भी समष्टि के मर्म को स्पन्दित करती हुई 'सरोज-स्मृति' ने काव्य-जगत् को समृद्धि प्रदान किया। यह इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता मानी जायेगी।

कविता में उपस्थित होने वाले नाटकीय मोड़ शैली को गति प्रदान करते हैं। मानवीय-करण, शृंगारिकता, वैयक्तिकता, प्रकृति-चित्रण, भावप्रवणता इत्यादि समस्त छायावादी विशेषताएँ इस कविता में विद्यमान हैं। मुक्त छन्द में लिखी गई इस कविता में लय का निर्वाह बड़ी सफाई के साथ किया गया है। कई स्थानों पर मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। यथा—

ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगार।
खाकर पत्तल में करे छेद।
इस विषम बेलि में विष ही फुल।
यह दग्ध-मरुस्थल नहीं सुजल।

निराला की भावाभिव्यक्ति में सबसे ज्यादा सहायता पहुँचायी है बिम्बों ने। एक ओर अनुभूति का तीव्र प्रवाह, दूसरी ओर बिम्बों एवं प्रतीकों का भव्य विस्तार, भाव एवं कला का मणिकांचन योग समुपस्थित कर देता है। यथा—

बाल्य की केलियों का प्रांगण।
वार पार कुंज, तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार बार-बार।

बिम्बों की ही तरह 'सरोज-स्मृति' में अलंकारों का भी सुन्दर नियोजन किया गया है। प्राकृतिक उपमानों को छोड़कर ज्यादातर उपमान सामान्य जीवन के हैं। इस कविता में सादृश्य-मूलक अलंकार का प्रयोग अधिक है। यथा—

काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर

मूलतः करुण रस की रचना होकर भी वात्सल्य एवं शृंगार रस के वर्णन का पूर्ण परिपाक 'सरोज-स्मृति' को संवेदना के स्तर पर गति प्रदान करता है। सरोज की बाल्यावस्था का यह चित्रण अत्यन्त हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी है—

खाई भाई की मार, विकल
रोई उत्पल-दल-दृग-छलछल
चुमकारा फिर उसने निहार
फिर गंगातट सैकत विहार।

सरोज की मृत्यु के पश्चात् आत्म-ग्लानि में डूबे निराला जी की वाणी कहीं-कहीं दार्शनिक मुद्रा अपना लेती है।

निराला जी की दृष्टि में सरोज की मृत्यु मृत्यु नहीं, बल्कि उस अखंड ज्योति में इस ज्योति का पुनर्मिलन ही है। वास्तविक रूप में यही स्थिति आत्मा का अमर एवं शाश्वत विराम है। इस दार्शनिक चेतना की पृष्ठभूमि में कवि पिता का पुत्री-स्नेह और भारतीय दर्शन में अमर आत्मा का सिद्धान्त एकसाथ प्रतिपादित हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सरोज स्मृति' एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है जिसमें युगीन साहित्यिक चेतना, दार्शनिकता, मनोवेदना, संवेदना, पश्चात्ताप, आशा-निराशा के साथ-साथ दुःख-दर्द की सम्पूर्ण झलक देखने को मिल जाती है। पूरी कविता का प्राणतत्त्व कवि का यह कथन है—

दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही
हो इसी कर्म पर वज्रपात—
यदि धर्म रहे नत सदा माथ
इस पथ पर मेरे कार्य सकल
हों भ्रष्ट शील के से शतदल।

सेंट जोसफ रीजनल सेमिनरी
४, ताशकन्द मार्ग
इलाहाबाद

शम्बूक : मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ

डॉ० विजेन्द्र नारायण सिंह

डॉक्टर जगदीश गुप्त का बहुचर्चित काव्य 'शम्बूक' रामायणी कथा से सम्बद्ध प्राचीन मिथक का नवीन आख्यान है। मिथक मनुष्य जाति के सामूहिक विश्वासों से निःसृत होते हैं और इसीलिए वे चिर नवीन बने रहते हैं। मिथक काल देवता के गर्भ से जन्म लेते हैं और प्रत्येक युग के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य से उन्हें स्फूर्ति और ताजगी प्राप्त होती है। प्राचीन मिथक का नवीन आख्यान कवि तब करता है जब मनुष्य का कोई पुराना मूल्य ध्वस्त होने लगता है और उसका स्थान नया मूल्य लेने लगता है। बदलते हुए सांस्कृतिक, सामाजिक मूल्य मिथकों में अर्थछवि का समावेश कर देते हैं और इसीलिए कथा-निर्माण-वक्रता अक्षुण्ण बनी रहती है।

शम्बूक-वध के प्रसंग को सबसे पहले आदिकवि वाल्मीकि ने उठाया था और बहुत दिनों से मेरा यह विश्वास रहा है कि उत्तर रामचरित के दो प्रसंगों—सीता-निर्वासन और शम्बूक-वध—के द्वारा महाकवि ने स्वयं ही अपने चरितनायक को ध्वस्त कर दिया है। राम का जो चरित वाल्मीकि ने लंकाकाण्ड तक चित्रित किया है, वह उनका श्रुत था। नारद ने जो उन्हें बतलाया था, उसी पर उन्होंने कल्पना और भावना के झरोखे और मेहराब तैयार किये थे। किन्तु उत्तर काण्ड में राम का जो चरित वर्णित हुआ है, वह वाल्मीकि का अपना देखा हुआ चरित है। सीता-निर्वासन और शम्बूक-वध—दोनों प्रसंगों का चित्रण महाकाव्य के रचयिता ने इतनी गरिमा के साथ किया है कि यह संभावना ही नहीं रहती कि वे प्रसंग क्षेपक हो सकते हैं। डॉक्टर जगदीश गुप्त ने 'कवि-कथन' शीर्षक नाम्नी इस पुस्तक की प्रस्तावना में अपने विद्वान् सहपाठी डॉक्टर कामिल बुल्के के उस मत को उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने महाकाव्य के सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड को सम्पूर्णतः प्रक्षिप्त घोषित किया है। वस्तुतः यह मत पूरी तरह निराधार है। उत्तरकाण्ड की भाषा-शैली उसी महान् कवि की हो सकती है जिसने रामायण के आरम्भिक छः काण्डों की रचना की है और एक महान् कवि ही अपने चरितनायक की प्रतिभा को इस प्रकार ध्वस्त कर दे सकता है। वस्तुतः वाल्मीकि रामायण उस समय की रचना है जब ब्राह्मण-व्यवस्था इस देश में प्रकर्ष पर पहुँच चुकी थी और उसके सम्बन्ध में कोई संशय व्यक्त नहीं किया जा सकता था। लेकिन कवि यदि सचमुच महान् होता है तो वह आस्था को भी संशय और निन्दा में रूपान्तरित कर दे सकता है। वाल्मीकि द्वारा निरूपित प्रस्तुत प्रसंग को इसी अर्थ में देखे जाने के लिए प्रस्तावित करता हूँ।

शम्बूक-वध-प्रसंग वस्तुतः रामराज्य की विफलता का काव्यात्मक आख्यान है। यदि जगदीश गुप्त जैसे मर्मी कवि ने इस अर्थ को ठीक-ठीक समझ लिया है तो इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है। जगदीश जी कुशल कवि हैं और मिथक के मर्म में वे पेचकस की तरह प्रवेश कर गये हैं। शम्बूक-वध-प्रसंग के मर्मार्थ को समझने के लिए मैं वस्तुतः इन्दिरा गांधी का ऋणी हूँ। १९७४-७५ के असाधारण वातावरण में इस प्रसंग का मर्मार्थ एकाएक विद्युत् की तरह मेरे मन में कौंध गया था। देश की गरीबी जब दूर नहीं हुई तो दो-तिहाई बहुमत द्वारा देश पर शासन करने वाली भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने पहले तो विरोधी दलों को दोषी ठहराया, उसके बाद जयप्रकाश नारायण दोषी सिद्ध हुए और इससे भी काम नहीं चला तो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को गरीबी

दूर होने में वास्तविक बाधक घोषित कर दिया गया। क्या यह मात्र आकस्मिक बात है कि जगदीश जी को लगभग इसी समय शम्बूक-प्रसंग पर लिखने की प्रेरणा मिली ?

वाल्मीकि ने उच्छ्वसित भाव से रामराज्य की यूटोपिया का चित्रण किया है। लेकिन तभी एक तेरह वर्षीय ब्राह्मण कुमार की अकाल मृत्यु हो जाती है और ब्राह्मण इस मृत्यु के लिए राम को अपराधी ठहराता है। राम की यूटोपिया में, जहाँ कि धरती पर स्वर्ग उतर आया था, भला ऐसा कैसे हो सकता था। इसलिए नारद के नेतृत्व में आठ ब्राह्मणों की एक परिषद् ने राम को यह परामर्श दिया कि उनके राज्य में कहीं न कहीं वर्णाश्रम-व्यवस्था का अतिक्रमण हुआ है और राज्य की किसी सीमा पर कोई खोटी बुद्धि वाला शूद्र महान् तप का आश्रय ले तपस्या कर रहा है, उसी के कारण ब्राह्मण बालक की मृत्यु हुई है—

स वै विषय पर्यन्ते तव राजन महातपाः
अद्य तप्यति दुर्बुद्धि स्तेन बालवधो ह्ययम् ॥

इस परामर्श के बाद राम ने अपने राज्य की सभी सीमाओं पर पुष्पक विमान से छानबीन की और दक्षिण दिशा में तपस्यारत शूद्र तपस्वी शम्बूक का बेहिचक वध कर डाला। प्रत्येक व्यवस्था अपने स्वत्वाधिकार को सुरक्षित रखना चाहती है। रामायणी कथा के इस प्रसंग का अर्थ इससे भिन्न नहीं है। अनुश्रुति है कि कार्ल मार्क्स जब स्वर्गारोहण कर रहे थे तो भारत में क्रान्ति करने की वसीयत उन्होंने भारतीय साम्यवादी दल को कर दी थी। इसलिए १९७४ में जब जयप्रकाश ने सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा दिया, तब भारतीय साम्यवादी दल के बड़े नेता और अनुयायी ताज्जुब में पड़ गये कि यह क्रान्ति करनेवाला दूसरा कहाँ से आ गया। भारत में क्रान्ति करने की वसीयत तो हमारे नाम से लिखी गयी थी। इसीलिए उन्होंने चीख-चिल्ला कर जयप्रकाश को प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया और फासिस्टों के समर्थन में फासिस्ट-विरोधी सम्मेलन करने लगे। लगभग उसी लहजे में हजारों वर्ष पूर्व वाल्मीकि ने लिखा है कि मनु इत्यादि शासनकारों ने तपस्या करने की वसीयत तो ब्राह्मणों के नाम कर दी थी, इसलिए भला कोई शूद्र तपस्या कैसे कर सकता है ? हर युग में निहित स्वार्थ की एक ही भाषा होती है, उसका एक ही लहजा होता है। प्रस्तुत प्रसंग में वाल्मीकि का समर्थ यही है।

इस प्रकार अत्यन्त पुराने मिथक को उठाकर भी जगदीश गुप्त ने अत्याधुनिक और साम्प्रतिक अर्थ-सन्दर्भ से अपने काव्य को जोड़ दिया है। शम्बूक की कथा तो एक खूंटी भर है जिसके द्वारा वे अपने युग की तथाकथित समाजवादी व्यवस्था के एक-एक धागे को उधेड़ देते हैं। रामराज्य की विफलता को इंगित करते हुए वन-देवता राम से कहता है—

सुना, फैली हैं तुम्हारी योजनों तक योजनाएँ
पर अगर सीमित रहीं आयोजनों तक योजनाएँ
यदि पहुँच पायीं नहीं भूखे जनों तक योजनाएँ
पर्वतों नदियों पठारों निर्जनों तक योजनाएँ
ये निरक्षर वन्य पिछड़े लोग सहते रहें कब तक
—यातनाएँ।?
अधमरे ये, कहाँ तक संतोष को खाएँ चबाएँ।

ध्वनि के मर्मज्ञों को इन पंक्तियों के सामयिक सन्दर्भों को व्याख्यायित करना सर्वथा निरर्थक है। जो व्यवस्था किसी भी रूप में पुण्य पर प्रतिबंध लगाती है वह निन्दनीय है। शम्बूक रामराज्य की तथाकथित सफलता पर शंका खड़ी करते हुए पूछता है

दण्ड यतियों के करों में सेष,
हो गये अपराध सब नि.सेष ?
नर्तकों के नृत्य में ही भेद,
क्या समाज विभेदहीन, अखेद ?
इस प्रशंसा में कहाँ है सार
चल सकेगा इसी से संसार
पुष्पिता वाणी फलों से हीन ?
क्या भविष्यत बीज देगी दीन ?

भला ऐसी शंकाओं का, राम के पास या किसी के पास, क्या उत्तर हो सकता है ? और व्यवस्था उत्तर देती ही कब है ? शम्बूक बड़ी गरिमा के साथ राम से कहता है—

जो व्यवस्था व्यक्ति के सत्कर्म को भी मान ले अपराध
जो व्यवस्था फूल को खिलने न दे निर्बाध—
जो व्यवस्था वर्ग सीमित स्वार्थ से ही ग्रस्त
वह विषम घातक व्यवस्था शीघ्र ही हो अस्त।

यह जगदीश गुप्त का शाप है। कवि और कुछ भी होने के पूर्व मर्द होता है। मर्द और कवि वस्तुत: पर्यायवाची शब्द हैं। निरंकुश सत्ताधारी प्रभु-सत्ता को चुनौती देने के लिए बडा कलेजा चाहिये। कविता शब्दों की पच्चीकारी और मीनाकारी नहीं होती है। यह काम कवि का नहीं, वरन् कलाकार का है। कवि मनुष्य की अवमानना देख जहाँ एक ओर रो उठता है, वहीं दूसरी ओर गरज भी उठता है, अत्याचारी को शापित भी करता है। जगदीश गुप्त मे एक कवि की करुणा और एक बुद्धिजीवी का आक्रोश दोनों है। इसलिए उनका यह 'शम्बूक' काव्य-विद्रोह का वर्चस्व बन सका है।

सच पूछिये तो व्यवस्था को कोसने में, उस पर प्रहार करने में जो कवि थोड़े में ही संतोष कर जाता है, उसने वस्तुत: कविताई के रस को पाया नहीं है। जगदीश गुप्त व्यवस्था से टकराने में, उस पर प्रहार करने में सहज ही संतोष नहीं करते हैं, विराम नहीं ले लेते हैं। 'शम्बूक' काव्य का महाभाव यही है। कवि कहता है—

लोकनायक वही जो संवेदना का मर्म समझे
धर्म और अधर्म समझे कर्म और अकर्म समझे।

वह दृढ़ता के साथ कहता है—

कौन शासक भूल अपनी मानता
सदा अपराधी प्रजा को जानता।

कवि का लक्ष्य नये मूल्यों के लिए संघर्ष करना होता है। नये मूल्यों के बिना कविता मे जीवन का ताप नहीं आता। वर्ण-व्यवस्था जब कर्मणा रही होगी, तब उसकी जो भी तेजस्विता रही हो, किन्तु जब से वह जन्मता हो गयी है, तब से वह अभिशाप बन गयी है। इस वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार करते हुए कवि कहता है—

वर्ण से होगा नहीं अब त्राण
कर्म से ही मनुज का कल्याण

जन्म से निश्चित न होगा वर्ण
वर्ग तक सीमित न होगा स्वर्ग
कर्म से ही श्रेष्ठता अधिकार—
कर्म सबके लिये सम अधार—

और इस प्रकार जगदीश गुप्त उस आन्दोलन को बल प्रदान करते हैं जिसे हिन्दी क्षेत्र में कबीर ने आरम्भ किया था। मनु के विधान को तिरस्कृत करते हुए वे कहते हैं—

शूद्र का तप शूद्र को फलवान हो
साधना जो भी करे बलवान हो।

कहते हैं कि हिन्दुओं को जब महाकाव्य की आवश्यकता हुई, तब वाल्मीकि आये। अनुश्रुति है कि वे अन्त्यज थे। हिन्दुओं को जब इतिहास और पुराण की आवश्यकता हुई, तब व्यास आये। वे मछुआरिन माँ से उत्पन्न हुए थे। हिन्दुओं को जब भक्ति की आवश्यकता हुई, तब कबीर आये। वे जुलाहा थे। और हिन्दुओं को जब संविधान की जरूरत हुई, तब बाबा साहब अम्बेदकर आये। वे हरिजन थे। इस प्रकार हिन्दुत्व में बहुत कुछ जो महत् और श्रेष्ठ है, वह उन लोगों का अवदान है जो अब्राह्मण रहे हैं। जगदीश गुप्त से 'शम्बूक' काव्य के द्वारा हमारी संस्कृति के एक गर्हित रूप को ध्वस्त किया है और हमारी सांस्कृतिक गंगा को रूढ़ियों की शिव-जटा से मुक्त किया है। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में उनकी कविता का यही उचित मूल्यांकन होगा—

'मेरी कृति में मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ।'

१२-ए, सेंट्रल युनिवर्सिटी कैंपस
हैदराबाद—५००१३४
(आं० प्र०)

हिन्दी नवगीत के तीन दशक

डॉ० सिंहेश्वर सिंह

नवगीत नई कहानी के समानान्तर प्रयोगवाद का विकास-क्रम है। जीवन-सन्दर्भों के बदलने से चेतना का विकास नवगीत का उपजीव्य है। जीवन की लय के बहने में व्यतिक्रम से जो टूटने की ध्वनि होती है, उसे कला की छुई-मुई उँगलियों से सजा-सँवार कर प्रस्तुत करने की क्रिया नवगीत का रचना-विधान है। संगीत की दृष्टि से देखें तो क्लासिकल के साथ गीली मिट्टी से उपजी घास की सोंधाई और हरीतिमा लिए लोकगीतों से जो जीवन्तता कुमारगंधर्व ने ली है, वही नवगीतों की नसों की जाल में लहू की लाली-सी दौड़ती दिखाई पड़ती है। इतना स्पष्ट है कि छायावादी गीतों, उसके उत्तरकालीन गीतों की वैयक्तिकता और नवगीत की वैयक्तिकता में अन्तर है। मैं समझता हूँ कि नवगीत नई कहानी की चेतना का छान्दस् स्वरूप है।

नवगीत की भाषिक संरचना पर विचार करते हुए उसकी प्रस्तुति की नवीनता, मौलिकता, आधुनिक बोध, अभिव्यक्ति के नये क्षितिज की आविष्कृति पर विचार करना आवश्यक है। इसी के लिए नवगीत की रचनाधर्मिता की पहचान स्पष्ट की जाय—

बादल की तरह
न बरसो तुम
हम दरख्तों-से भींग जाते हैं।
× × ×
रात किसने ये गुलमुहर तोड़े
लाल आँखों के हो गये डोरे
एक चिड़या ने
चोंच क्या मारी
दूर तक तार झनझनाते हैं। —सुधांशु उपाध्याय

इस गीत में जन के जिस दर्द को ताजगी और गेयता प्रदान की गई है, कथिता के शील को जिस तरह से प्रस्तुत किया गया है, वह नये आयाम का द्वार खोलता है।

हिम-शिखर हिलने लगे हैं।
घाटियों में आग के—
पदचिह्न अब मिलने लगे हैं। —सुधांशु उपाध्याय

हिन्दी के फैशनपरस्त कवियों की भीड़ से अलग सुधांशु उपाध्याय ने सपाटबयानी से परे गीत की मुलायम मिट्टी वाली जमीन की तलाश की है। गीत विधा में आधुनिकता-बोध की अभिव्यक्ति नवगीत की अपनी विशेषता है—

आज उम्र के विकट मोड़ पर
आँखें किसी कूप में जैसे राह नहीं दिखती
थाह नहीं मिलती

पन्थन मन भी भरकर रोया
नाग नहीं छूटे। —नईम

'सन्दर्भों के बदलने के परिणामस्वरूप जो नये संबंध पनपे, उनका परिणाम नवगीत है' को स्वीकारने वाले नईम नई जिन्दगी की लय के गायक हैं। गीत उनके नये बोध की अनुकृति है। छन्द उनकी अपनी तलाश है जिसमें चीजों के पहचानने के लिए भाषा की नई रोशनी की खोज है। नईम कहीं न कही अपने को निराला की परंपरा के विकास-क्रम में मानते हैं—

बूँद-बूँद गलकर हम भीड़ों में
बहते हैं हिम-नदी सरीखे।
हम खण्डित इन्द्र-धनुष उठाये
इस्पाती भाषा में चीखे। — सोम ठाकुर

गीतों के बारे में नामवर सिंह का कहना है कि नीतिपरक मुहावरे, फिकरे और चमकदार वाक्यों से परे गीतों का अपना धर्म होता है। उसमें एक कलेवर की सम्पूर्णता और गठाव होता है। उनकी शिकायत है कि आज के गीतों में गीत-धर्म का अभाव है।

नवगीतों के आन्तरिक काव्यानुभव को ध्यान में लाने पर स्पष्ट झलकने लगता है कि उसका बोध महानगरों की यांत्रिकता का कम, कस्बे, गाँव, जंगल, पहाड़ और झरने का अधिक है। और यह सच भी है कि महानगरों में गीत गाने की किसे फुर्सत है? विज्ञान के अनुभव ने हमारी बौद्धिकता को संवेदना से इतना दूर कर दिया कि—

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन। —प्रसाद

की स्थिति नितान्त विपरीत हो गई है। नवगीत की अभिव्यंजना आयातित और परंपरित कम है। देशी निजीपन, उसकी कड़वी-मीठी संवेदनशीलता, निजी शिल्प, व्यक्तित्व का तिरोहन नहीं, उसका सम्पूर्ण समर्पण नवगीत की अपनी मुद्रा है—

आगे-आगे पछुआ
पीछे पुरवाई
बादल दो बहनों के बीच
एक भाई। —देवेन्द्र कुमार

अथवा—

सूख रहे धान और पोखर का पान
चलो पिया गुहरायें
बादल ! बादल !!
× × ×
इन्द्र को मनायेंगे टुटकों के बल
रात ढले निर्वसना जोतेंगी हल —अर्जुनसिंह भदौरिया

लोक-जीवन और प्रकृति का सहज संवेद्य स्वरूप ऊपर के दोनों गीतों में स्पष्ट लक्षित है।

भाषा तो गीत की पहचान का मात्र एक साधन है। भाव-समाधि, अनुभूति की तीव्रता, बोध से लिपट कर सजे हुए विन्यास गीत के निजत्व की छवि है।

मैं वही
माँ हमारी दूब,का तरु

बाप बादल
औ' बहन हर बोल पर
बजती हुई मादला। —ठाकुरप्रसाद सिंह

ठाकुरप्रसाद सिंह ने पूरब के आदिवासियों की जिन्दगी के प्रिमिटिव संस्कारों को, उसके सहज चित्र को, अपनी प्रतिभा के मौलिक प्रसंग को नये धरातल पर पेश किया गया है। उनके गीतों में आदिम गंधचित्रों के भाषा-रूपान्तर में फ्रेंच चित्रकार जोंगा की याद ताजी हो जाती है—

कीच भरी धँसती आँखों-सी
टपक रही हैं खपरैलें —राजेन्द्र गौतम

उपर्युक्त गीत में जिन्दगी की कुरूपता, संत्रास को नई उपमा देकर प्रस्तुत किया गया है।

सुबई हुई
तो प्राची ने डाले डोरे
शाम हुई पता चला
थे वादे कोरे
गोधूली, लौटते पखेरू, संगीत गया।
दिन यों ही बीत गया। —उमाकान्त मालवीय

उमाकान्त के गीतों का उपजीव्य रूमानियत है। आदमी के रात-दिन के जीवन, सुख-दुख, आवेश-परिवेश को उन्होंने लय देने की कोशिश की है। उन्होंने नवगीतों को, नवीन संवेदना को, नये क्षितिज को स्पर्श करके नई भूमिका के लिए तैयार किया है।

नदियों का यह नीला जल, रेतीला घाट,
झाऊ की झुरमुट के बीच, यह सूनी बाट,
रह-रह कर उठती हिलकोर
देखेगा कौन? —डॉ० शंभुनाथ सिंह

स्त्री-पुरुष के आदिम आकर्षण को प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच प्रस्तुत करना डॉ० शंभुनाथ सिंह के गीतों की विशेषता है। उनके गीतों का प्रकृति-चित्रण उतना टटका और नवीन नहीं है, जैसा नईम और सुधांशु उपाध्याय के गीतों में हम पाते हैं।

आधुनिक गीतों का मूल्यांकन छायावादी या छायावादोत्तर गीतों, जैसे निराला, महादेवी, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा के गीतों की कसौटी पर कसना अन्याय को प्रश्रय देना है। यह मानकर चलना चाहिए कि कविता आदिम प्रवृत्ति का देश-काल-परिस्थिति के ढाँचे में भाषा के माध्यम से प्रतिफलन है। कविता में जो संवेदना होती है, उसकी जड़ें तत्कालीन जैविक सम्बन्ध से उपजे राग-विराग होते हैं। नवगीत अपने परिवेश के कारण नया है। उसके भीतर अन्तर्प्रवाहित रक्त युग-युग के आदिम रंग का है।

नवगीत के बारे में कुमारशिव की मान्यता है कि—"आत्माभिव्यक्ति, लय और गेयता की रंगीन रेखाएँ नये से नये प्रतीकों में बँधकर जीवन के तपते धरातल पर एक इन्द्रधनुष को जन्म देती है और इसी का नाम नवगीत है।" नवगीत की जड़ें ग्रामीण संस्कृति से जुड़ी हैं और उसका अग्र अस्तित्व नगरीय सभ्यता को आत्मसात् कर नवीन-बोध को मूल्य के रूप में जन्म देता है—

नाव मिट्टी की लिए
तट पर खड़े हैं दिन

गले कागज-सी सुबह है
कब मुड़ेगी, क्या पता कब
टूट जायेगी। —कुमार शिव

कविता जहाँ ठहरने या दुहराव की स्थिति में पहुँचने लगती है, तो उसे लोक-पक्ष की ओर, लोकगीतों की ओर देखना ही पड़ता है। नवगीत गीत के भावों, अभिव्यक्ति के दुहराव से बचने का सफल प्रयास है। नवगीत की लोकगंध साहित्य की एक नवीन उपलब्धि है।

कच्ची-सी उम्र
पकी बाली-सी
धूप
आंगन में खनके
कंगन-भर
सूप······ —अनूप अशेष

गुलाबसिंह का नवगीतकार ग्रामीण चरित्र के क्षय और नगरों के महानगर में परिणत होने से चरित्रों के कसाव और टूटन का बोध अपने गीतों में व्यक्त करता है। संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति की सहजता उनके गीतों में फूट पड़ी है—

दिन भर थकी
साँझ को लौटी
बूढ़ा बाप
धरे सगुनौटी
धूप सरीखी धिया हमारी
चौखट तार गयी। —गुलाब सिंह

नारेबाजी की तहत फतवे और उपदेश आज नवगीतों के विषय बन गये हैं। लेकिन काल के प्रवाह में वे तिनके के समान बह जायेंगे। गीतों के बारे में जनता का न्याय बेहतर माना जायेगा। जनता जिसे गायेगी, वह गीत माना जायेगा।

गीत कालजयी विधा है। इसमें फैशन चल नहीं सकता। कसीदाकारी करने से ज्यादा उचित है कि इसकी सहजाभिव्यक्ति को विकसित किया जाय। ताजगी और गेयता के साथ मन के भाव के धरातल को गोताखोर के समान छूकर मोती-भरी सीपी बाहर लाना, दिखाना सफल गीतकार का लक्षण है—

टुकड़े-टुकड़े नाते-रिश्ते
धज्जी-धज्जी प्यार
हुई जिन्दगी बनिये के
खाते की रकम उधार —डॉ० सुरेश

अथवा—

भीतर ये प्राण पसीजेंगे
अपने ही जल में भीजेंगे
चुपके-चुपके नीचे-नीचे
मन की नाजुक पर्तें तोड़कर
वे देखो फूट पड़े हैं
लौट नहीं आना ओ बादल दिनेश सिंह

प्रगतिवाद, प्रयोगवाद के बाद नवगीत का आन्दोलन भले ही लोगों की दृष्टि में चेतना का ठहराव लगे, लेकिन गद्य विधा में नई कहानी और ललित निबन्ध के समानान्तर कविता के पाँव मिलाकर चलने की गति नवगीत में स्पष्ट दिखती है। साहित्य की प्रवृत्ति युग-सापेक्ष होती है। एक युग में एक ही प्रवृत्ति का विकास हो, ऐसा संभव नहीं। नवगीत नई कविता के समानान्तर युगीन चेतना की दूसरी धारा है, जैसे वीरगाथा काल में शृंगार और वैराग्य की धारा बहती हुई दृष्टिगत होती है। नई कविता की चेतना नवगीत से भिन्न है। मूलतः उसकी आत्मा ललित निबन्ध से मिलती-जुलती है।

यूरोपीय काव्यांदोलनों, जैसे बिम्बवाद, प्रतीकवाद, दादावाद, भविष्यवाद, प्रयोगवाद के समान हिन्दी के नवगीत का आन्दोलन उपलब्धि की दृष्टि से कम नहीं है। साहित्य का हर आन्दोलन साहित्य को सम्पन्न करके, उसमें कुछ जोड़कर तिरोहित है। नवगीत ने भी साहित्य को जो कुछ दिया, वह उसकी अपूर्व सम्पत्ति है—

टूटे धनु
बाण नहीं छूटे
कुहरे की पर्तों में लक्ष्य-बिन्दु खोये।
डूब गयी पीछे की भीड़ कहीं
लहरों ने चीड़ वन भिगोये। —सोम ठाकुर

परम्परा के अनुसार गीतकारों को कल्पनालोक के राजकुमार का गौरव प्रदान किया जाता है। नवगीतकार की यथार्थपरक दृष्टि संवेदना-प्रवण उद्वेग ऐसी है, जैसे ठोस जमीन में बीज अँकुराये, पत्तियाँ फूटें और सुबह उसमें ओस की बूँदें ढरकें जो सूरज की किरणों से झलमला कर सतरंगी हो जायँ—

साथ तुम्हारे दिन लगते हैं
ऐसे गन्ध भरे
जैसे रात किन्हीं प्यासे
भुजपाशों में गुजरे। — विजय किशोर

मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषियों का युग समाप्त हो गया। आधुनिक कवि ऋषियों की भूमिका स्वीकार करने को बाध्य तो है, लेकिन रोजनामचे की जिंदगी की कीचड़ उसे आपादमस्तक डुबोये हुए है—

फिर दोपहर लगी अलसाने
नीम तले।
कौए लगे पंख खुजलाने
नीम तले। —बुद्धिनाथ मिश्र

अथवा—

फिर नदी के साथ
दुर्घटना हुई
फिर उसे रोका गया
सुनसान में! —जहीर कुरेशी

कथ्य और शिल्प के स्तर पर नवगीत छायावादी गीतों की ऊँचाई तो धारण किये ही हैं। नवगीत का मूल्य पिटा-पिटाया, मात्र परम्परित ही नहीं है, उसे युग ने अपने अनुभव का अवदान देकर पुष्ट और सम्पन्न भी किया है

बीच आँगन में खड़ी
तुलसी
स्वयं अपराजिता-सी
वत्सला अमराइयाँ
वह छाँह
पीपल की—पिता-सी,
एक झोंका स्नेह का मन
गुदगुदाता है ! —योगेन्द्रनाथ शर्मा

यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी का नवगीतकार समय के बदलते तेवर को अपनी पूरी ऊष्मा से महसूता है और उसकी सम्पूर्णता को अभिव्यक्ति दी है—

माई आन्हर बाबू आन्हर
हमें छोड़ दोउ भाई आन्हर
के के के के दिया दिखाई
बिछुरी अस भौजाई आन्हर। —कैलाश गौतम

माटी की गंध के गीतकार कैलाश गौतम ने बोली की मिठास को गीत की लय दी है। उनके गीतों में लोक-चरित्र, लोक-धुन और स्वाभाविक मानवीय सम्बन्धों से उपजे राग की लयान्विति है।

राजीव सक्सेना, कुमार विमल आदि नवगीतकारों ने भाषा, भाव और कथ्य की दृष्टि से नये से नये प्रयोग कर रहे हैं।

●

द्वारा श्री हरीश मिश्र
ताराचन्द्र हास्टल
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी गद्य के विकास में पराड़कर जी का योगदान

□

डॉ० अशोक त्रिपाठी

हिन्दी पत्रकारिता के आधार-स्तंभ पं० बाबूराव विष्णुराव पराड़कर एक ओर जहाँ पत्रकारिता के जगमगाते सूर्य हैं और अपनी आभा से पत्रकारिता-जगत् को देदीप्यमान कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर हिन्दी गद्य के विकास में आपकी महती भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पराड़कर जी हालांकि हिन्दी-भाषी नहीं थे, आपकी मातृभाषा मराठी थी, परन्तु उन्होंने अपना सर्वस्व दान करके आजीवन हिन्दी की सेवा की और उसके स्वाभिमान की रक्षा की तथा उसे समृद्ध बनाया। अपने लगभग ४८ वर्षों के पत्रकारिता-जीवन में आपने हमेशा हिन्दी भाषा को समृद्ध करने, उसके स्वरूप को व्याकरण-सम्मत वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का व्रत निभाया।

यद्यपि पराड़कर जी उन अर्थों में साहित्यकार नहीं थे जिन अर्थों में साहित्यकार का अर्थ लिया जाता है। उन्होंने ललित विधाओं में रचना नहीं की है, लेकिन इससे पराड़करजी के साहित्यिक योगदान को भुलाया नहीं जाना चाहिए। उन्होंने खुद ललित साहित्य नहीं लिखा, लेकिन अनेक समकालीन रचनाकारों को उन्होंने प्रेरणा दी, उनका उत्साहवर्धन किया, उनके अन्दर की प्रतिभा को पहचान कर उनको संरक्षण दिया। यही नहीं, अपने समय के सभी मान्य रचनाकारों से पराड़कर जी का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और सभी लोग पराड़कर जी को श्रद्धा के साथ सम्मान देते थे। ऐसे लोगों में श्री माधवराव सप्रे, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, श्री गोपालराम गहमरी, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० पद्मसिंह शर्मा कमलेश, पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री जैनेन्द्र कुमार, मुंशी प्रेमचन्द, आचार्य शिवपूजन सहाय, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री अनन्त शास्त्री फड़के, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० राधेश्याम कथावाचक, श्री सम्पूर्णानंद, श्री एण्ड्रूज आदि के पत्रों के माध्यम से पराड़कर जी के प्रति उनकी भावना का पता चलता है। सभी लोग पराड़कर जी की लेखन-शैली, विचार-वैभव और भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति, प्रभावान्विति और शुद्धता के कायल थे। इस सन्दर्भ में हिन्दी गद्य के निर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का यह पत्र उल्लेखनीय है—

दौलतपुर (रायबरेली)
१८-१२-२८

नमस्कार,

विनय या विनती विशेष यह है कि आज मैंने 'रथ के दो चक्र' नामक लेख पढ़ाकर सुना। इसके पहले भी इस तरह के कई लेख मैंने सुने। आपकी सहृदयता, न्यायशीलता और तर्क-पद्धति पर मैं मुग्ध हो गया। आप धन्य हो।

अनुगत
म० प्र० द्विवेदी

पराड़कर जी व्यक्ति नहीं, एक संस्था थे। पराड़कर जी का जीवन बहुमुखी था। वे केवल लेखक ही नहीं थे, पत्रकार ही नहीं थे; वे एक क्रांतिकारी भी थे। उनकी जेब में कलम के साथ पिस्तौल भी रहती थी। कई बार उन्हें पुलिस से इसके लिए बचना पड़ा, कई बार जेल भी हो आए, फिर भी अंत तक वह क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लेते रहे। पत्रकारिता के साथ-साथ सक्रिय क्रांतिकारिता का निर्वाह जिस ईमानदारी और निष्ठा के साथ पराड़कर जी ने किया, वह अप्रतिम है।

ऐसी जोखिम-भरी दुधारी तलवार पर चलते हुए जीवन-क्रम में पराड़कर जी बैठकर गंभीर साहित्य-चिंतन कैसे कर सकते थे? लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि पराड़कर जी में साहित्य-प्रतिभा थी ही नहीं या उन्हें साहित्य की समझ भी नहीं थी। इस संदर्भ में सन् १९३८ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्ताइसवें अधिवेशन के सभापति के पद से शिमला में दिया गया उनका भाषण मात्र उनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रमाण है। इस भाषण में उनके अन्दर का छिपा हुआ कवि अपने पूरे सौन्दर्य-बोध के साथ प्रकट हो गया है। उनके छिपाने पर भी छिप नहीं सका है। भाषण का कुछ अंश द्रष्टव्य है—

'साहित्य सम्मेलन का यह सत्ताईसवाँ अधिवेशन शिमला शैल पर हो रहा है। × × जिस अखण्ड जप और साधना का आरंभ भारतीय संस्कृति के केन्द्र-स्वरूप हमारी काशी नगरी में हुआ, उसकी एक लघुमाला का अन्त उस नगाधिराज के क्रोड़ में हो रहा है, जहाँ हमारे उस साहित्य का आविर्भाव हुआ था जिसने मनुष्य को मनुष्य बनाया, दुनिया को सभ्यता का सबक पढ़ाया। × × आज हम हिन्दी साहित्य की सेवा के लिए उसकी गोद में जमा हुए हैं, यह हमारा सौभाग्य है।'

रही बात साहित्यिक समझ की, तो इस बारे में सन् १९२५ में तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए १९ अक्टूबर के 'आज' के अग्रलेख में पराड़कर जी ने जो गंभीर चिंतनपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है, वह स्वयं उनकी साहित्यिक समझ का प्रमाण है—

"लेखकों की संख्या बढ़ गयी है और पुस्तकें भी भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रकाशित हो चुकी हैं तथा हो रही हैं। पाठकों की रुचि में भी परिवर्तन हो गया है। यह सब हुआ है, पर कहना पड़ता है कि साहित्यिक दृष्टि से आजकल के लेखक पन्द्रह साल पहले के लेखकों से निम्नकोटि के ही ठहराये जायेंगे। कारण यह है कि साहित्य का अध्ययन बहुत कम लोग करते हैं। अंग्रेजी साहित्य अथवा अन्य किसी विषय मे विश्वविद्यालय का प्रमाणपत्र पा जाना ही हिन्दी के लेखक बनने की योग्यता का द्योतक हो गया है। फलत: दिन-दिन हमारी पुस्तकों के शब्द तो हिन्दी और संस्कृत, पर वाक्य अंग्रेजी बनते चले जाते हैं। भाषा में न जोर रह गया है, न हृदयग्राहिता × ×। रचना-कौशल घटता जा रहा है।

कवि-सम्मेलन की तो आजकल धूम है। प्रकृत काव्य का अभाव आज हिन्दी में जितना ही अधिक हो रहा है, कवियों की संख्या भी उतनी ही बढ़ती चली जाती है। समस्यापूर्तियों और पुरस्कारों से वस्तुतः कहाँ तक काव्य-स्फूर्ति हो सकती है, इसका निर्णय करने में हम तो असमर्थ हैं। हम इतना जानते हैं कि वर्ष में शायद ही एक कविता ऐसी दिखाई देती हो जो भाषा और भाव की दृष्टि से अच्छी कही जा सके। × ×

कवि-सम्मेलन हम अनावश्यक नहीं समझते। इसकी बहुत आवश्यकता है। सम्मेलन कवियों का हो, पद्य-रचकों का न हो, काव्यमर्मज्ञों का हो—केवल यमकानुप्रासों के प्रेमियों का न हो, यही हमारा निवेदन है। हिन्दी में गद्य और पद्य दोनों में उच्चकोटि के हास्य मजाक या ह्यूमर का बिल्कुल अभाव-सा हो रहा है इसका कारण क्या है यह भी विचारणीय है

ये उद्धरण न केवल पराड़कर जी की साहित्यिक जागरूकता को सिद्ध करते हैं, वरन् उनकी गद्यशैली के भी उत्कृष्ट नमूने हैं। वैसे भी हिन्दी गद्य के विकास में उसकी शैली के निर्धारण में पत्रकारों का ही मुख्य योगदान रहा है। हिन्दी गद्य का इतिहास इसका प्रमाण है। इस सम्बन्ध मे डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का यह कथन महत्वपूर्ण है, "अधिकांश शैलीकार सम्पादक स्वयं रहे हैं और वर्तमान हिन्दी में भी अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णु पराड़कर और कमलापति त्रिपाठी ऐसे सम्पादक हैं जिनकी रचनाओं में भाषा की सारी बनावट और सजावट अपने-अपने ढंग की निराली है। उसमें लेखक का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व झलकता है।" (हिन्दी गद्यशैली का विकास, पृ० ५)

यही विचार पराड़कर जी का भी था और जो काफी सही भी था कि हिन्दी गद्य का प्रारंभ समाचार-पत्रों के साथ हुआ। वैसे तो खड़ीबोली हिन्दी गद्य का प्रारंभ लगभग सन् १८०० से माना जाता है, लेकिन वास्तविक खड़ीबोली हिन्दी गद्य की नीव भारतेन्दु युग से पड़ी, जिस पर आगे चलकर द्विवेदी युग के लेखकों और पत्रकारों ने हिन्दी गद्य की पुख्ता इमारत खड़ी की। इसी द्विवेदी युग में पराड़कर जी भी हिन्दी गद्य को पुष्ट और सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे और लगातार आगे भी ४८ वर्षों तक जुटे रहे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सन् १९०३ ईसवी में 'सरस्वती' के संपादक हुए और हिन्दी गद्य के स्वरूप को स्थिर करने और उसे शुद्ध और प्रांजल बनाने मे लग गए। पराड़ककर जी भी सन् १९०६ ई० से पत्रकारिता के क्षेत्र में, कलकत्ता से प्रकाशित 'हिन्दी बंगवासी' के सहायक संपादक के रूप में अवतीर्ण हुए और अपने लेखों, टिप्पणियों के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी में किसी भी विषय पर गंभीर विवेचन की क्षमता विद्यमान है। वहीं पर आपका सम्पर्क पं० गोविन्द नारायण जी मिश्र से हुआ और हिन्दी भाषा के बारे में बहुत कुछ पराड़कर जी ने आचार्य मिश्र से सीखा। पराड़कर जी पर आचार्य जी का इतना प्रभाव था कि जिस तरह आचार्य जी बाणभट्ट की गद्यशैली के कायल होकर लम्बे-लम्बे समासयुक्त वाक्यों के प्रयोग के पक्षधर थे, उसी तरह पराड़कर जी भी १९०६ से १९१० तक (जब तक पराड़कर जी का संपर्क आचार्य द्विवेदी से नहीं हुआ था) २२-२५ पंक्तियों का वाक्य लिखने के आदी थे—पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र जी का गद्य 'कादम्बरी' का अनुकरण था और मैं भी उनका पदानुसरण करने का ही यत्न किया करता था। द्विवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और अपने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था। वर्षों बाद मुझे द्विवेदी जी के इस कथन की सत्यता का अनुभव हुआ। मैं भी भाषा सरल और वाक्य छोटे-छोटे करने का यत्न करने लगा। 'आज' के कुछ लेख आपको बहुत पसन्द आए थे। (पराड़कर जी और पत्रकारिता—लक्ष्मीशंकर व्यास, से उद्धृत)

पराड़कर जी हिन्दी गद्य के स्वरूप को स्थिर करने और उसे व्याकरण-सम्मत बनाने के लिए हमेशा चिन्तित रहते थे और प्रयत्नशील भी। यही कारण है कि जब हिन्दी में पंडित सखाराम गणेश देउस्कर ने विभक्ति का आन्दोलन छेड़ा, तो सबसे पहले 'हितवार्ता' में ही इस संबंध में पराड़कर जी ने अपने हिन्दी-गुरु पं० गोविन्द नारायण मिश्र के सबसे अधिक लेख छापे। उस समय पराड़कर जी ही 'हितवार्ता' के सम्पादक थे।

इसका जिक्र आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में किया है, परन्तु पता नहीं किस कारण वह पराड़कर जी का नाम छिपा गये। वैसे भी उनके पूरे इतिहास ग्रन्थ में पराड़कर जी और 'आज' का नाम नदारद है, जबकि पराड़कर जी उनसे मात्र एक वर्ष बड़े थे और दोनों ही काशी में रहते थे। पराड़कर जी सन् १८८३ में तथा शुक्ल जी सन् १८८४ में पैदा हुए थे शुक्ल जी

द्वारा पराड़कर जी की उपेक्षा का कारण क्या था ? इस पर गम्भीर विवेचना की आवश्यकता है, क्योंकि हिन्दी गद्य के उत्थान और विकास के साथ-साथ हिन्दी की भाषानीति और उसकी लिपि के सम्बन्ध में पराड़कर जी ने अपना योगदान दिया है। समस्त हिन्दी भाषा-भाषी लोग उनके आजन्म ऋणी रहेंगे।

जिस समय पराड़कर जी हिन्दी भाषा के स्वरूप को स्थिर करने के लिये प्रयत्नशील थे, उस समय राजनीतिक लोगों द्वारा, वोट के स्वार्थ के कारण, अरबी-फारसी से ग्रस्त हिन्दुस्तानी का आन्दोलन चलाया जा रहा था। पराड़कर जी अहिन्दी-भाषी होते हुए भी 'हिन्दुस्तानी' के प्रबल विरोधी थे और हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए समर्पित थे तथा हिन्दी ही राष्ट्रभाषा क्यों हो, इसके बारे में आपने तर्कसंगत वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस बारे में उनका सबसे बड़ा तर्क यह था कि "सभी भारतीय भाषाओं में दूसरी भाषा वालों के लिये घृणा व्यक्त करने वाले शब्द हैं, पर हिन्दी में नहीं। उदाहरणस्वरूप आप मराठी का 'रांगड़ा', बंगला का 'खोट्टा' आदि शब्द सम्मुख रखते थे।" (लक्ष्मीशंकर व्यास, पराड़कर जी और पत्रकारिता, पृ० १४८)

पराड़कर जी की भाषा-नीति एक ऐसी सम्पूर्ण हिन्दी भाषा की परिकल्पना है जो जन-जन की सर्वसुलभ भाषा हो सकती है और सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा पद की अधिकारिणी है—

"आधुनिक साहित्य के निर्माण के लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परागत सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से है, जिसकी शक्ति कबीर, तुलसी, सूर, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, रसखान और हरिश्चन्द्र की कृतियों में आयी है, जिसका मूलाधार देशी और तद्भव शब्दों का भण्डार है और जिसके पारिभाषिक शब्द प्राकृत अथवा संस्कृत के क्रम पर ढाले गये हैं, किन्तु जिसमें विदेशी, रूढ़, सुलभ और प्रचलित शब्दों का भी स्थान है।"

पराड़कर जी अपने लेखन में बराबर अपने उपर्युक्त प्रस्ताव का ध्यान रखते थे। यही कारण है कि अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि "जिस प्रकार काका कालेलकर ने गुजराती में नये-नये शब्दों की योजना कर तथा व्याकरण के अनुरूप शब्दों को बताकर नवीन विषय, सुबोध शैली में प्रचलित कर गुजराती भाषा एवं साहित्य को समृद्ध किया, उसी प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य को पराड़कर जी ने सम्पन्न बनाया।"

इसी सन्दर्भ में १३ नवम्बर, १९५० को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा में उनका यह कथन उल्लेखनीय है—"राष्ट्रभाषा सबकी है, केवल हिन्दी भाषियों की नहीं, अतः उसके विकास के लिए प्रादेशिक भाषाओं से उत्तमोत्तम शब्द और मुहावरे हिन्दी में समाविष्ट करना चाहिए।"

हिन्दी भाषा को समृद्ध करने में पराड़कर जी के योगदान की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध साहित्यिक चिंतक प्रभाकर माचवे जी ने कहा है कि पराड़कर जी ने हिन्दी साहित्य को दो सौ नवीन शब्द दिये हैं—"पराड़कर जी ने हिन्दी की महान् सेवा की है तथा स्वतन्त्र चिंतन द्वारा देश का मार्गदर्शन किया है। आपने अपना समस्त जीवन मिशनरी की भावना से हिन्दी भाषा एवं साहित्य के निमित्त समर्पित कर दिया। उन्होंने हिन्दी साहित्य को दो सौ नवीन शब्द दिए हैं।"

वे तमाम शब्द जैसे 'सर्वश्री, श्री, राष्ट्रपति, मुद्रास्फीति, लोकतन्त्र, नौकरशाही, स्वराज्य, सुराज्य, नक्राश्रु, मक्राश्रु, वातावरण, वायुमण्डल, कार्रवाई, अन्तर्राष्ट्रीय, चालू, अन्तरिम आदि जो पराड़कर जी ने अपनी मेधा और प्रत्युत्पन्न मति के बल पर हिन्दी संसार को दिए, उससे हमारी हिन्दी को ओज और तेज मिला तथा इन शब्दों में से अधिकांश का प्रयोग हम उसी अर्थ मे आज भी करते आ रहे हैं

इस स दर्भ मे विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है। हिन्दी गद्य को गति और दिशा प्रदान करने मे जो योगदान आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से दिया, वही योगदान पराड़कर जी ने हितवार्ता, हिन्दी बंगवासी, रणभेरी, भारतमित्र, आज, कमला, संसार आदि के माध्यम से अपने अग्रलेखों, टिप्पणियों और लेखों तथा अनेक पुस्तकों की भूमिकाओं, जैसे—'अच्छी हिन्दी' (रामचन्द्र वर्मा), 'दार्शनिक विचार' (राजा बलदेवदास बिरला), 'हिन्दुत्व' (रामदास गौड़), 'अमेरिकी स्वाधीनता का इतिहास' (देवकीनन्दन 'विनय'), 'काम-दर्शन' (श्री हरिनाथ जी) आदि एवं अनेक सम्मेलनों आदि मे दिये गये भाषणों के माध्यम से दिया है, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है। जरूरत है तो सिर्फ उनके मूल्यांकन की, जो कि अभी तक नहीं हुआ है। हमारे हिन्दी साहित्य-इतिहास-लेखक और चिंतकगण केवल साहित्यकारों के ही योगदान की चर्चा करते हैं और केवल उन्हीं साहित्यकारों की, जिनकी चर्चा शुक्ल जी कर गये हैं। यद्यपि पराड़कर जी का मुख्य धर्म पत्रकारिता था, पर साहित्य के प्रति भी वे निष्ठावान थे। उनके समकालीन विद्वान् उन्हें साहित्यिक मानते भी थे। प्रमाण के लिये निम्नलिखित उद्धरण दर्शनीय हैं —

'पराड़कर जी के लेख-टिप्पणियाँ साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं।'

— आचार्य शिवपूजन सहाय

यही नहीं, पराड़कर जी मे पद्य-लेखन की भी क्षमता थी, हालाँकि उन्होंने उसका प्रयोग नहीं किया। क्षमता की बानगी 'देशेर कथा' का हिन्दी अनुवाद 'देश की बात' की भूमिका का निम्नलिखित छन्द है —

पाठक गण ! निज हृदय थामकर पढ़ो देश अपने की बात,
निर्दयता से हुआ जिस तरह पुण्यभूमि भारत का घात,
शोक सिन्धु में डूब न रहना, रखना मन में भारी धीर।
वही वीर जननी को जायो, हरे सदा जो उसकी पीर।

इस प्रकार पराड़कर जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी, बहुविषयविद् और हिन्दी गद्यशैली तथा भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले कर्मठ-ओजस्वी साहित्यिक पत्रकार थे। उनका पत्रकार और साहित्यकार आपस में इस प्रकार घुला-मिला है कि दोनों को अलग कर पाना मुश्किल है। उनकी भाषाशैली के बारे में उनके सहयोगी जीवनीकार पं० लक्ष्मीशंकर व्यास का यह कथन महत्वपूर्ण है—

"पराड़कर जी की लेखन-शैली में व्याकरण-सम्मत और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग उसे अत्यन्त सजीव तथा सशक्त बनाता है। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि भाषा के चलते शब्द यथा-प्रसंग भावाभिव्यक्ति के निमित्त प्रयुक्त होते हैं। भाषा में कहीं कृत्रिमता अथवा अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। आपकी कथन-प्रणाली आलोचनात्मक होते हुए भी तथ्यातथ्य-निरूपक ही कही जायगी, जिसमें गाम्भीर्य और ओज दोनों हैं। × × भाव-प्रकाशन की तीनों प्रणालियाँ व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक तथा विचारात्मक का प्रयोग पराड़कर जी ने यथाप्रसंग किया है।"

यदि हम यह भी मान लें कि पराड़कर जी साहित्यिक नहीं थे, फिर जब हम हिन्दी गद्य के विकास की चर्चा करेंगे और उसमें पराड़कर जी के योगदान का मूल्यांकन उनकी टिप्पणियों, लेखों, अग्रलेखों तथा भूमिकाओं के आधार पर नहीं करेंगे, तो हिन्दी गद्य के विकास की एक विकलांग तस्वीर ही हमारे सामने प्रस्तुत होगी, क्योंकि हिन्दी भाषा को जन-जन तक पहुँचाने का काम, उसकी शैली को लोगों के हृदय पर आसीन करके उसकी क्षमता को प्रमाणित

करने का काम दैनिक पत्रों ने ही किया है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर नगेन्द्र का यह मत भी विचारणीय है—"आधुनिक काल के प्रारम्भ में रचित स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थ-प्रकाश' निश्चय ही ललित साहित्य का अंग नहीं है, परन्तु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना सम्भव है ?"

डॉक्टर नगेन्द्र के इसी सवाल को मैं पराड़कर जी के बारे में एक बार हिन्दी साहित्य के अध्येताओं और विचारकों के समक्ष रखकर पूछना चाहता हूँ कि क्या आधुनिक हिन्दी गद्य के विकास और आलोचनात्मक शैली के विकास का अध्ययन पराड़कर जी के लिखे लेखों, अग्रलेखों, टिप्पणियों, भूमिकाओं आदि के बिना संभव है ?

इसी सवाल के साथ मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ, इस उम्मीद के साथ कि सुधी अध्येतागण इस ओर प्रवृत्त होंगे और हिन्दी गद्य के विकास में पराड़कर जी ही नहीं, अन्य मान्य पत्रकारों के योगदान की भी सही और तथ्यपरक विवेचना करके उनका मूल्यांकन करेंगे, ताकि हम इतिहासकारों की उस पीढ़ी के उस अपराध का प्रायश्चित कर सकें जो अपराध उन्होंने पत्रकारों की उपेक्षा करके किया है।

२२, लाउदर रोड,
इलाहाबाद

आचार्य कवि प्रतापसाहि-रचित 'महावीर कौ शिख-नख'

श्री उदयशंकर दुबे

रीतिकालीन आचार्यों में प्रतापसाहि का प्रमुख स्थान है। रीतिकाल के अन्तिम चरण में इन्होंने कई विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज विवरणिकाओं में इनके द्वारा रचित एकादश ग्रन्थों का विवरण मिलता है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतापसाहि के काव्य-कौशल की बड़ी सराहना की है। उन्होंने लिखा है कि "प्रतापसाहि का कौशल अपूर्व है कि उन्होंने एक रस-ग्रन्थ के अनुरूप नायिका-भेद के क्रम से सब पद्य रखे हैं जिससे उनके ग्रन्थ को जी चाहे तो नायिका-भेद का एक अत्यन्त सरस और मधुर ग्रन्थ भी कह सकते हैं। यदि हम आचार्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते हैं तो मतिराम, श्रीपत और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते है।"[2] मिश्र-बन्धुओं ने उन्हें मतिराम का अवतार माना है—"प्रताप के सब गुणों में प्रधान उनकी भाषा-प्रौढ़ता है। इस कवि के रूप में मानो डेढ़ सौ वर्ष बाद स्वयं मतिराम ने अवतार लिया था।"[3] आश्चर्य है कि ऐसे समर्थ आचार्य कवि की अभी तक एक ही कृति 'व्यंगार्थ-कौमुदी' ही प्रकाशित हो सकी है।[4] इसके अतिरिक्त साहित्य-समालोचक[5] में 'रामचन्द्र को नख-शिख' ग्रन्थ तथा साहित्य समालोचक[6] के ही एक अन्य अंक के मुखपृष्ठ पर उनका लिखा आषाढ़ मास-विषयक एक छन्द भी प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त प्रतापसाहि के सभी ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

प्रतापसाहि प्रसिद्ध कवि रतनेश (रतनसाहि) के पुत्र थे। ये चरखारी के राजा विजयबहादुर विक्रमजीत[7] (शासनकाल, संवत् १८४२-सं० १८८६) तथा राजा रतनसिंह[8] (शासनकाल, सं० १८८६-१९१७) के आश्रित थे। चरखारी राज्य की ओर से इनको 'राव राना' की उपाधि तथा देवपुर गाँव भेंट में प्राप्त हुआ था। इनके वंशज आज भी चरखारी और देवपुर में रहते हैं। प्रतापसाहि ने अपने ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में बड़े आदर के साथ अपने पिता रतनेश का नामोल्लेख किया है –"इति श्री कवीन्द्र कुलभूषण रतनेसात्मज सुकवि प्रतापसाहि विरचितायां महाबीर कौ सिष-नष समाप्तम्।"[9] इसी प्रकार 'अलंकार-चिन्तामणि' ग्रन्थ की पुष्पिका में भी रतनेश का नाम आया है।[10] चरखारी राजदरबार में रतनेश के बाद उनके पुत्र प्रतापसाहि को सम्मान मिला। उसी समय से अब तक उनके वंशजों को, चरखारी राज्य की ओर से प्रति वर्ष 'सिरोपाव' दिया जाता है। प्रतापसाहि के वंशजों की नामावली इस प्रकार है[11]
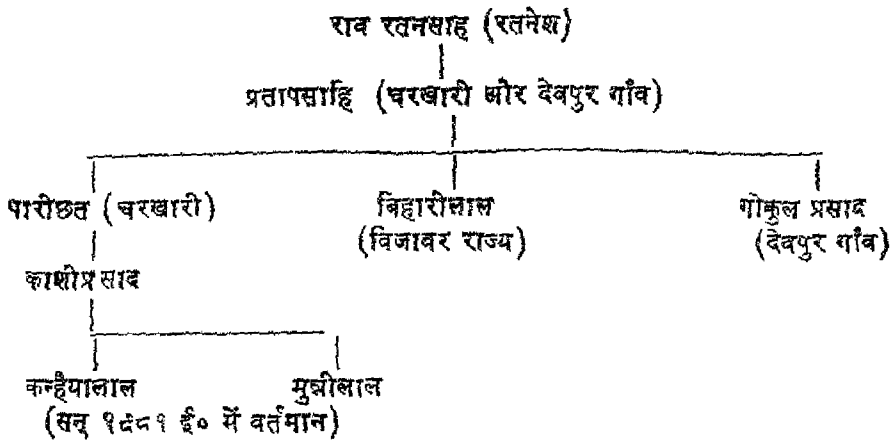
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज विवरणिकाओं में प्रतापसाहि-रचित 'हनुमान विनय पचीसी' और 'महावीर को शिख-नख' ग्रन्थों का विवरण नहीं मिलता ।[१२] प्रतापसाहि के ये दोनों ग्रन्थ भक्तिप्रधान हैं और कवि ने इनमें अपने कष्ट-निवारणार्थ पवनपुत्र हनुमान से विनय करने के साथ उनकी कीर्ति का गान किया है । गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रणीत 'हनुमान बाहुक' का आगे के कवियों पर भारी प्रभाव पड़ा । फलतः रीतिकाल के कई कवियों ने हनुमान-पचीसी, हनुमान-पचासा, हनुमान-शतक, महावीर को शिख-नख नाम से ग्रन्थों की रचना की ।[१३] रीतिकाल में बुन्देलखण्ड-अंचल में हनुमान-विषयक बहुत-सा साहित्य रचा गया जिनमें काली कवि का 'हनुमान-शतक' और मान कवि का 'हनुमान-पचासा' अधिक प्रसिद्ध हैं ।

प्रतापसाहि-कृत 'महावीर को शिख-नख' नामक ग्रन्थ की एक जीर्ण-शीर्ण प्रति चरखारी-निवासी पण्डित बलभद्रप्रसाद मिश्र गुरदेव के संग्रह में सुरक्षित थी । उसी प्रति के आधार पर यहाँ पाठ प्रस्तुत है । इस प्रति का लिपिकाल अज्ञात है । इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की अन्य कोई प्रति अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है ।

'महावीर को नख-शिख' ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १८८६ वि० है । इसके पूर्व कवि ने 'हनुमान विनय पचीसी' की रचना की थी । कवि के शिर में भारी पीड़ा हुई, उसी कष्ट के निवारण-हेतु उसने 'हनुमान का शिख-नख' लिखा । ऐसा प्रतीत होता है कि 'विनय पचीसी' की रचना का उद्देश्य भी कष्ट से छुटकारा पाना था । कवि ने जब हनुमान जी को अपनी 'विनयपचीसी' सुनायी तो उन्होंने ध्यान नहीं दिया—'प्रथम पचीसी जो करी, सो न करी तुम कान । ह्यां ते अब शिख-नख करत, महादान हनुमान ।' (छन्द सं० ३) । कहते हैं कि जब प्रतापसाहि ने हनुमान जी को शिख-नख सुनाया तो उनके शिर का दर्द दूर हो गया और वे स्वस्थ हो गये । शिख-नख में कुल पैंतालीस छन्द हैं जिसमें छह दोहा और उन्तालीस कवित्त छन्द हैं । ग्रन्थ के अन्तिम छन्द में रचना-काल का निर्देश है । प्रतापसाहि का 'महावीर को शिख-नख' ग्रन्थ छोटा होते हुए भी अनूठा है । इसमें उनका काव्य-कौशल भी देखा जा सकता है, साथ ही यह भी निर्धारित होता है कि रीतिकाल के आचार्य कवि केवल शृंगार-प्रधान रचना ही नहीं करते थे, अपितु वे भक्तिपरक रचना करने में भी प्रवीण थे ।

'महावीर को नख-शिख' ग्रन्थ के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

परतापसाहि रचित महावीर को शिख-नख

श्रीमते हनुमानाय नमः ।। अथ महावीर को शिख-नख लिख्यते ।

दोहा— महावीर बजरंग के जुगल चरन सिर नाइ ।
तिनको शिख नख करत हौं, निजु मति सरस सुभाइ १

अर्थ, धर्म, जस, कामना लहियतु मिटत विषाद।
कबहूँ तिनके दास की, परी न वाद फिराद ॥२॥
प्रथम पचीसी जो करी, सो न करी तुम कान।
ताते अब सिख-नख करत, महादान हनुमान ॥३॥
सह्यो जात सिर पीर नहिं, अब मुहि पवन कुमार।
सो अब दूर करीजिये, अपनौ विरद सम्हार ॥४॥

सिर-वर्णन—

कवित्त— दस मुख मुख वारी पीवि अभीवन सदा,
जीवन को जीवन सजीवन सुतंत को ॥
अमल अदोष परपूरन कलानिधि सौ,
करन सदा जो जानु गंजन के अन्त को ॥
कहे परताप सूरो रूटो रविमण्डल (पै),
पानिप को पूरो उग्र ओजस अनन्त को ॥
बरन सकै थो कहि ऐसो कवि को है,
निज जन मन मोहे शीस मोहै हनिमंत को ॥५॥

भाल-वर्णन—

कवित्त— दस मुख साल सब सत्रन को जाल,
अरुनोदय सो लाल बल विक्रम अपार को ॥
जन पै दयाल कलिकाल सो कराल,
हाल करन सदा जो भव पारावार पार को ॥
कहै परताप बाल विमल विभाकर सो,
दिपत मसाल ज्वाल माल बिकरार सो ॥
धरित को सु प्रतिपाल महि मिलन को,
सोहत विसाल भाल पवन कुमार को ॥ ६ ॥

भृकुटि वर्णन—

कवित्त— रंजित रंगीली राम नाम की कुटी पै,
लकुटी है कर मैन मैन आभा अद्भुत की ॥
प्रगटी भरी है मनि मरकत रेखवारी,
जुगल जुरी हैं डीठि रंचित प्रभूत की ॥
कहै परताप भव सिन्धु सकटी हैं ,चारु,
चंचित पुटी है उपटी हैं करतूत की ॥
सोभा सौं सटी है छवि छटन छुटी हैं,
कोटि तन को तटी हैं भृकुटी पौनपूत की ॥ ७ ॥

मुख वर्णन—

कवित्त— लाजे सुनि विहद गराजे मेघ मालन की,
भाजै रजनी-चरन गरव अभंग को ॥
सोधे सब साजे छब राजै-राजै,
गल गाजै बढ़े वीर रस तरल तरंग को ॥

कहै परताप छाजे रसना रसिक नाम,
कपिन सयाने करै आनद निमंग कौ ॥
साजै सब सुखन निवाजै जो हमेस,
छवि छाजै बेस बदन बिराजै बजरंग कौ ॥ ८ ॥

अधर वर्णन—

कवित्त— जावक जपाके जैतवार हैं ललित,
कुरविंद अरविंद बाही आभा अनुहार के ॥
सुभग पनार जुत नीचे नासिका के,
सुधा सिंचहि धुलीचे छै वचन अनुसार के ॥
कहै परताप राजै तिनकै बखान कौन,
······न हरत वर वेदन ·········के ॥
कालनि कलित राजै सुन्दर सुयक विव,
अच्छ अलोल राजै पवन कुमार के ॥ ९ ॥

दसन वर्णन—

कवित्त— जातै खल धौ मन की महिमा मली सी जात,
दीपति दली सी दसकंठ मजबूत की ॥
विकट विलोकै बंक लंकऊ हरनी सी,
···पाट पली सी जात वालौ पुरहूत की ॥
कहै परताप उलटी औ पलटी सी जात,
मयतनया की वेग विभव विभूत की ॥
पीसी जात जासौं जातुधान की रतीसी लसी,
आनन मैं दसन बत्तीसी पौनपूत की ॥ १० ॥

नेत्र वर्णन—

कवित्त— मीन से चपल ऐन झलकी प्रभा से खासे,
गंजन गरब गति खंजन अभंग के ॥
कानन लौं लागे रस विषय विरागे,
राम नाम रस पागे अनुरागे ओर जंग के ॥
कहै परताप अरुनारे कारे सेत,
विसिष बिसारे अनियारे अनमंग के ॥
रिघ रज राखैं नाखै भरम के भिग धर,
धीरज कै धिग पिंग नैन बजरंग के ॥ ११ ॥

कपोल वर्णन—

कवित्त— छबि के छपाकर दिवाकर से जोतवन्त,
ललित बसंत बेस बनक सुढार के ।
कारन कला से पैल मलत फलाके भरे,
पानिप तलाके दीह दीपति उदार के ॥
कहै परताप अरुनोदय बरन,
जन मन के हरन सदा उपमा अपार के

दरस अमोल आदरस तें अतोल,
गोल कलित कपोल···१४ के ओर के ।। १२ ।।

असकंध (स्कंध) वर्णन—

कवित्त— कोरि करी कुंभन के गरब गिरावै कंध,
निदरै वृषभ बल विक्रम अपार के ।।
सेलै मेर मन्दिर उठेलै गढ कोट सुभ,
सरस सराहे जे बनाये वज्र सार के ।।
कहै परताप भार धारै तीन लोक ही को,
सार मय सूरे बनै बनक सुढार के ।।
तेज तिगमंस सब जगत प्रसंस,
अब नीके अवतंस अंस अंजनी कुमार के ।।१३।।

भुज वर्णन—

कवित्त— भंड भेदनी के खल दलन के खंड लखै,
अखिल अखण्ड बल विक्रम अनन्त के ।।
मुंड बिन करत वितुंडन के झुंड, सुंड—
तोरै बरह्मान्ड फोरै मोरै दिगदंत के ।।
कहै परताप गनै प्रबल प्रचंड,
परचंड सुधि लैन वारै सुमन ससंत के ।।
चंड कर कलित विहंड बलबंड अति,
उद्धत उदंड भुजदंड हनुमंत के ।।१४।।

छाती वर्णन—

कवित्त— खल दल घाती संत सुजन संघाती,
समर सन अघाती बल विक्रम अपार की ।।
ताती दसकंधर के दल पै चबाती,
जंग जुरै उतपाती कर करती सार वार की ।।
कहै परताप संत सुरन सिहाती,
काल नेम से अराती हनिबे को बज्रसार की ।।
वीर रस राती करै दारिद हिजाती,
प्रभु गुन गन माती छाती पवन कुमार की ।।१५।।

उदर वर्णन—

कवित्त— अमित अजर भर्‌यो सुजस को पारावार,
सुन्दर सुढार छवि पुंज छाइयतु है ।।
बरनै सुकवि बल बुद्ध को अथाह,
गुन गनन की थाह कबहूँ न पाइयतु है ।।
कहै परताप राम रस को भंडार,
त्रभुवन को अधार जन मन भाइयतु है ।।
पोवन उदधि जग जीवन मुदर महावीर,
इमि रावरो उदर गाइयतु है ।।१६।।

लगूर वर्णन—

कवित्त— पूर करि अगिन कगूरन कपूर लंक,
चूर करि अतुल अतंक के उमंग को ॥
पारावार मापन अखंड परचंड दंड,
प्रबल प्रचंड कालदंड रन रंग को ॥
कहै परताप महा ओज को निधान,
कपिदल को निसान सान वारो सफजंग को ॥
बरन्यो विबुध मुद मंगल को मूल,
अघ मूल हर ललित लगूर बजरंग को ॥१७॥

कटि वर्णन—

कवित्त— ललित ललाम छाम अति अभिराम,
लख्यो जगत तमाम माम वारो बलवंत को ॥
जाके अवलोकें मान मोकें मृगराजन को,
कपिन समाजन मै सोभित सुतंत को ॥
कहे परताप नीचे नाभी के विराजे,
जुग जंघन पै छाजे राजे उपमा अनंत को ॥
सुघट सवारो विधि संकट हरन वारो,
वंकट विकट कटि तट हनिमंत को ॥१८॥

जंघ वर्णन—

कवित्त— पारावार वार पार मापिबे के दंड,
काल दंड से उदंड बल विक्रम अपार के ॥
संगर मै निपट निहारे लोह लंगर के,
प्रबल प्रचंड जैसवारे वज्रसार के ॥
कहै परताप जगतीतल के थंभ बल,
तिनकै अदंभ अरि करन समार के ॥
जिनके मदंध पहिचाने दसकंध,
ऐसे उदधि उलंघ जंग पवन कुमार के ॥१९॥

चरण वर्णन—

कवित्त— नायक विजै के वर दाइक दुनी मैं संत,
सुजन सम्हारन विदारन विपत्ति के ॥
कुलिस से जिनके प्रहार हैं कठिन,
कल कोमल अमल कोकनद की भगति के ॥
कहै परताप दीन कोटिन निवाजे,
छवि छाजे अेन आनद सुदैन अभिमति के ॥
खेदज करि मारे खेद खलन के थोम,
बन्दौं मोदमय चरन सरोज हनुमंति के । २०

ब-तल वर्णन —

कवित्त— अंकुस कुलिस ध्वज चिन्ह जुत सोहैं,
अधरोहैं मन मोहैं बैस विद्रुम विमल से ॥
अरुन अनूप गुल नारन के भूप,
पहिचाने जात जावक जपा कै भूमि थल से ॥
कहै परताप तैसे सुन्दर सुभग चारु,
आबदार सुमन गुलाब झला झलके ॥
पग तल विमल विराजै पौनपूत वारे,
कोमल अमल कंज दल मखमल से ॥ २१ ॥

संदर्भ-संकेत

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण, खण्ड १, पृष्ठ ५८४-५८५। सभा की सन् १९०६ ई० की खोज विवरणिका में प्रतापसाहि के विविध ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है— (१) जैसिंह प्रकाश; (२) काव्य विलास; (३) शृंगार मंजरी; (४) शृंगार शिरोमणि; (५) अलंकार चिन्तामणि; (६) रतन चन्द्रिका; (७) रसराज तिलक; (८) काव्य विनोद; (९) जुगल नख-शिख; (१०) व्यंगार्थ कौमुदी एवं (११) बलिभद्र कृत नख-शिख—संख्या ८१, पृष्ठ ४९-५०। इसके अतिरिक्त नवोपलब्ध ग्रन्थों में 'हनुमान विनय-पचीसी' और 'महावीर को शिख-नख' हैं। इन दोनों ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ चरखारी-निवासी श्री बलभद्र प्रसाद मिश्र गुरुदेव के संग्रह में सुरक्षित हैं। इस प्रकार प्रतापसाहि के ग्रन्थों की संख्या तेरह तक पहुँचती है।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३१७, ८वाँ संस्करण, नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

३. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ५७५, खण्ड १-२, परिवर्धित संस्करण, सन् १९७२ ई०।

४. इसका प्रकाशन संवत् १९८२ वि० में भारत जीवन प्रेस, काशी से हुआ था।

५. साहित्य समालोचक, संवत् १९८५ वि०, ज्येष्ठ-आषाढ़, परिशिष्ट, पृष्ठ १-७।

६. प्रतापसाहि का आषाढ़ मास से सम्बन्धित छन्द इस प्रकार है—

बादरन बादर दै दादुर मचावै सोर।
तैसे गिरि शृंगन तै मोर मन मोरे देत ॥
पौन झकझोरन डरै के चहुँ ओरन तै,
धुरवा धुरारे सर सागर हिलोरे देत ॥
कहै 'परताप' निसि द्यौस विरही जन को,
कौंधि चक चौंधि चित बिज्जुलि विथोरे देत ॥
छ्वै छ्वै छिति संडल उमंडि नभ मंडल ते,
धारा धर धारन धरनि आजु बोरे देत ॥

—साहित्य समालोचक, आषाढ़, संवत् १९८६ वि०, भाग-४, संख्या-६, मुखपृष्ठ

७. द्रष्टव्य—बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २८४, गोरेलाल तिवारी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

८. वही, पृष्ठ २८३।

९. महावीर को शिख-नख, हस्तलिखित प्रति, पत्र ७।

१०. अलंकार चिंतामणि की हस्तलिखित प्रति, पत्र ३७। इस ग्रन्थ की रचना प्रतापसाहि ने अपने दो पुत्रों पारीछत और बिहारीलाल के पढ़ने के लिए की थी—पुष्पिका द्रष्टव्य है—"इति श्री कवीन्द्र कुलभूषण रतनसाहि सिरोहमणि तस्यात्मज सुकवि प्रतापसाहि विरचितायां अलंकार चिंतामणि अर्था सब्दालंकार वर्ननो नाम सम्पूर्ण प्रकास ॥ मिती फाल्गुन वदी ६ सुक्रे समत् १९८४ लिखित प्रतापसाहि पठनार्थ चिरंजीव बिहारीलाल पारीछतेन। श्री रामो-जयति।"

११. प्रतापसाहि के वंशज श्री कन्हैयालाल सिरोहिया ने अपने पूर्वजों के विषय में पर्याप्त जानकारी दी थी। उन्होंने प्रतापसाहि के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को भेंट कर दिया था। सन् १९८२ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया। ये भी कविता करते थे।

१२. द्रष्टव्य—खोज विवरणिका, सन् १९०६ ई०, संख्या ९१, पृष्ठ ४९-५०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१३. द्रष्टव्य—हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण, खण्ड २, पृष्ठ ६०७-६१४, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१४. ....कीट दंशित अंश।

३२२, फुलवरिया रोड,
दारागंज, प्रयाग
साहित्य विभाग,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
प्रयाग

रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' और उनका काव्य

डॉ० आत्माराम शर्मा 'अरुण'

हिन्दी साहित्येतिहास ग्रन्थों में रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' और उनके काव्य का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। कविराम अभी तक भी अज्ञात ही हैं और इनका कर्तृत्व दुर्लभ-प्राय है। इसी कारण विद्वान् पाठक और सुधी समीक्षक इधर आकर्षित नहीं हो सके।

नागरी प्रचारिणी सभा के "हस्तलिखित पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण, द्वितीय खण्ड" मे 'रस-भूषण' का परिचयात्मक विवरण निम्नवत् दिया गया है—

"रसभूषण (बरवै) रामनाथ (वाजपेयी) कृत नायिका-भेद। प्रा० महाराज बनारस का पुस्तकालय रामनगर (वाराणसी)—१८०३/८३"

इसी विवरण से केवल इतनी जानकारी मिलती है कि रामनाथ वाजपेयी द्वारा बरवै छन्द से रचित नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी शृङ्गार का 'रस-भूषण' ग्रन्थ काशी नरेश के रामनगर दुर्ग-स्थित संग्रहालय में सुलभ है।

रामनाथ वाजपेयी का परिचयात्मक विवरण संक्षेप में इस प्रकार वर्णित हुआ है—

"रामनाथ (वाजपेयी)—पटियाला नरेश महाराज नरेन्द्रसिंह के आश्रित। महाभारत (भाषा) के नौ अनुवादकों में से एक यह भी हैं।

संवत् १९१९ वि० के लगभग वर्तमान—०४/६७

जानकी पच्चीसी—१७/१५२

रसभूषण—०३/८३"

यह विवरण बड़ा ही भ्रामक और अशुद्ध है। वस्तुतः रामनाथ नामधारी तीन कवियों को उक्त विवरण में एक कवि के रूप में ही उल्लिखित कर दिया गया है। इन तीनों में सर्वाधिक प्राचीन कवि रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' हैं जिन्होंने संवत् १८१७ वि० के आस-पास कभी बरवै छन्द में 'रस-भूषण' नामक नायिका भेदोपभेद-सम्बन्धी शृङ्गार रस के ग्रन्थ का प्रणयन किया था। 'जानकी पच्चीसी' के रचयिता रामनाथ उपाध्याय हैं। ये अयोध्या के निकटवर्ती कहीं के निवासी थे। इनका समय संवत् १९०० वि० के आस-पास का है। ये रामभक्त कवि थे। खोज रिपोर्ट १९१७/१५२ में 'जानकी पच्चीसी' के संवत् १९०४ वि० के हस्तलेख के आधार पर इन्हें उपाध्याय उल्लिखित किया गया है। तीसरे रामनाथ कवि पटियाला दरबार में आश्रित थे। महाभारत के नौ अनुवादकों में से एक यही थे। इनका समय संवत् १९१९ वि० है। इस दृष्टि से 'जानकी पच्चीसी' के रचयिता रामनाथ उपाध्याय से ये किंचित् परवर्ती है।

'रस-भूषण' के रचयिता रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' ने उक्त ग्रन्थ में अपना परिचयात्मक विवरण नहीं दिया है। ग्रन्थ की समाप्ति पर पुष्पिका में केवल मात्र अग्रलिखित उल्लेख प्राप्त होता है

इति श्री बरवै वाजपेयी रामनाथ कृत सम्पूर्ण शुभमस्तु रसभूषण ग्रन्थ समाप्त

इससे अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

'रस-भूषण' के मंगलाचरण सम्बन्धी प्रथम तीन बरवै छन्दों के बाद रचयिता ने किन्हीं निहचल सिंह की प्रशस्ति का गान किया है।

इन्हीं राजा निहचल सिंह ने रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' को बरवै छन्द में 'रस-ग्रन्थ' रचने का आदेश दिया था।

हुकम दीन बड हितु कै, निहचल दॉनि।
बरवइ बरनि सुनावो, रस कै खॉनि ॥ ८ ॥

रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' ने उक्त आदेश का पालन किया और नायक-नायिका भेदोपभेद सम्बन्धी शृंगार रस के उत्तम ग्रन्थ 'रस-भूषण' का बरवै छन्दों में प्रणयन किया।

हुक्म 'राम-कवि'[1] पावा, सुखु अधिकान।
रचेहुँ ग्रन्थ रस भूषन, रसु सरसान ॥ ९ ॥

कवि रामनाथ वाजपेयी ने 'रस-भूषण' में अपने आश्रयदाता निहचल सिंह के विषय में भी परिचयात्मक विवरण नहीं दिया है। हस्तलिखित ग्रन्थों के संक्षिप्त विवरण, द्वितीय खण्ड मे निहचल सिंह के विषय में निम्नवत् ज्ञातव्य प्राप्त होता है—

"निहचल सिंह—बेनी कवि के आश्रयदाता।
संवत् १८१७ वि० के लगभग वर्तमान—०२/६२"

बेनी वाजपेयी ने अपने आश्रयदाता निहचल सिंह के आश्रय में संवत् १८१७ वि० मे 'रसमय' ग्रन्थ की रचना की थी। उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ में निहचल सिंह के विषय में जो विवरण उल्लिखित किया है, उसके अनुसार बाबू निहचल सिंह काशी राज्य के संस्थापक महाराजा बरिबण्ड सिंह के चचेरे भाई मेहरवान सिंह के पुत्र थे। कवि रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' और बेनी वाजपेयी ने इन्हीं के आश्रय में क्रमशः 'रस-भूषण' और 'रसमय' काव्य-ग्रन्थों की रचना की थी।

वाजपेयी ब्राह्मणों के पंडा पं० हंसराज, हरप्रसाद, पीपलवाली हवेली, हर की पौड़ी, हरिद्वार, की बही मे खोज करने पर जो अज्ञात एवं उपयोगी तथ्य उक्त संदर्भ मे हमे मिले है, उन्हे यहाँ उल्लिखित किया जा रहा है—

(१) कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी, माघ बदी १, संवत् १८१८ वि० में केदारनाथ पंडित को लेने (पटियाला से) हरिद्वार गये थे। बही में कवि शेखर के हस्ताक्षर भी हैं।
(२) उक्त बही में चन्द्रशेखर वाजपेयी के पिता तथा पितामह क्रमशः मानूलाल वाजपेयी और रामनाथ वाजपेयी उल्लिखित हैं।
(३) इन्हें धन्नी के वाजपेयी तथा बाबा 'उदय' का आसामी बताया गया है।
(४) चन्द्रशेखर वाजपेयी के उमादत्त और गौरीशंकर दो पुत्र थे। गौरीशंकर वाजपेयी श्रावण संवत् १८२१ वि० में अपनी बहन के फूल लेकर हरिद्वार गये थे। उनके साथ उनकी माता जी भी गई थीं।

---

१ रामनाथ वाजपेयी काव्य में अपना उपनाम रामकवि प्रयुक्त करते थे। सग्रह ग्रन्थों मे सगृहीत उनके छन्दो मे कविराम राम आदि उपनाम भी प्रयुक्त हुए हैं। लेखक

(५) चन्द्रशेखर वाजपेयी के बड़े भाई कुंजबिहारी वाजपेयी थे जिनके ज
वासुदेव नाम के दो पुत्र भी उक्त बही में उल्लिखित हैं।

कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी 'धन्नी के वाजपेयी' तथा 'उदय बाबा के आसा
उपयोगी तथ्य को आधार मान कर हमने 'कान्यकुब्ज वंशावली' को जिज्ञासा-वश
से उलट-पलट कर देखा।[1] इस सन्दर्भ में हमें जो विवरण मिला, उसे अविक
उल्लिखित किया जा रहा है—

(क) यज्ञदत्त वाजपेयी के ५ पुत्र—(१) विष्णु, (२) महाराम, (३) f
देवराम, (५) लक्ष्मीनारायण, ये पाँचों लखनऊ के वाजपेयी कहलाये

(ख) लक्ष्मीनारायण के १ पुत्र कृष्ण वाजपेयी, इन्होंने लखनऊ से असनी ज
और असनी के वाजपेयी कहलाये।

(ग) कृष्ण वाजपेयी की पहली स्त्री से एक पुत्र पीथा, सो असनी के वार
दूसरी स्त्री से ४ पुत्र—(१) हीरा, (२) बीसा, (३) धन्नी, (४)
असनी के वाजपेयी कहलाये।

(घ) धन्नी के चार पुत्र—(१) भावनाथ, (२) उदयनाथ, (३) गिरधर,
सब मोजमाबाद में धन्नी के वाजपेयी कहाये।

उक्त विवरण के आधार पर यह मुक्त कंठ से स्वीकार किया जा सकता
वाजपेयी 'कविराम' धन्नी वाजपेयी के द्वितीय पुत्र उदयनाथ वाजपेयी के वंशज थे
में रहते थे। उदयनाथ वाजपेयी के पुत्र तथा रामनाथ वाजपेयी के पिता तथा
ज्ञात होने पर सही सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

नई खोज में प्राप्त तथ्यों के आधार पर रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' के वं
निम्नवत् उल्लिखित किया जा सकता है—
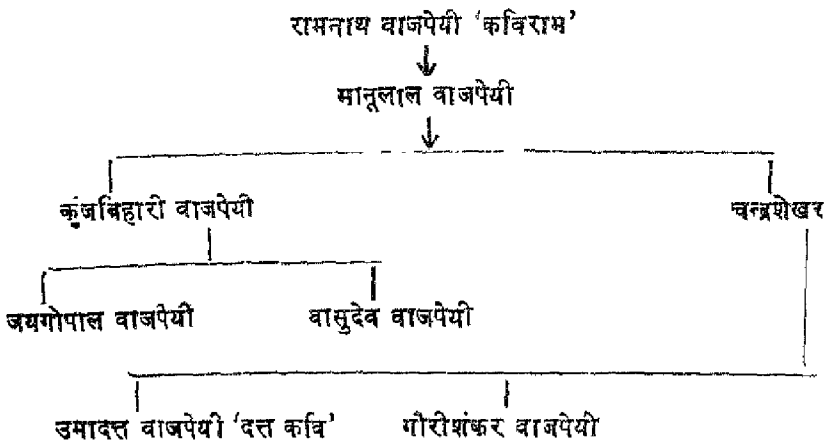
वाजपेयी वंश पर सरस्वती की अपार कृपा रही है। इसी कारण इस
छह-सात पीढ़ियों तक काव्य-सृजन अबाध गति से होता रहा। किन्तु खेद है कि
वाजपेयी वंश के सभी विद्वान् कवि और उनके काव्य-ग्रन्थ प्रकाश में न आ
कारण जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की स्वार्थ-तत्परता और उपेक्षावृत्ति ही रही है।

---

1 वंशावली, पृ० ८५

विद्वत्कुलोद्भव रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' मोजमाबाद-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके जन्म, बाल्यकाल तथा शिक्षा सम्बन्धी ज्ञातव्य अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। बेनी वाजपेयी के साथ ही ये मोजमाबाद से उपयुक्त आश्रयदाता की खोज में काशी पहुँचे थे। वहीं बाबू निहचल सिंह के आश्रय में तथा उन्हीं के आदेश पर 'कविराम' ने बरवै छन्द में नायिका-भेद सम्बन्धी 'रस-भूषण' ग्रन्थ रचा था।

रचना-काल—बेनी वाजपेयी ने अपने 'रसमय' ग्रन्थ में दूसरी और तीसरी अनुशयाना नायिका के उदाहरणस्वरूप रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' द्वारा रचित दो सवैये उद्धृत किये हैं। ये सवैये निश्चित रूप में संवत् १८१७ वि० में अथवा इससे पूर्व रचे गये थे। 'रस-भूषण' में कविराम ने रचना-काल उल्लिखित नहीं किया है। ऐसी स्थिति में, अन्त:साक्ष्य के न मिलने पर बाह्य साक्ष्य का ही सहारा लिया जा सकता है। कविराम बेनी वाजपेयी के साथ मोजमाबाद से काशी आकर बाबू निहचल सिंह के आश्रय में रहे। अतः इनका रचना-काल संवत् १८१७ वि० के आस-पास ही मान लेना उपयुक्त लगता है।

रचनाएँ—रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' कृत 'रस-भूषण' ही अभी तक प्राप्त हो सका है। विभिन्न संग्रह-ग्रन्थों में संगृहीत इनके कुछ स्फुट छन्द भी प्राप्त हुए हैं। बेनी वाजपेयी के 'रसमय' तथा संग्रह-ग्रन्थ 'कवित्त' में कविराम कृत नायिका-भेद सम्बन्धी कतिपय उदाहरण कवित्त, सवैये छन्दों में मिलते हैं। लगता है, बरवै छन्द में 'रस-भूषण' की रचना से पूर्व उन्होंने कवित्त, सवैये छन्दों में भी नायक-नायिका भेदोपभेद-सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ की रचना की थी। बरवै जैसे छोटे छन्द में ग्रन्थ-प्रणयन अनायास ही संभव नहीं जँचता। संभव है, खोज करने पर इनकी कोई अन्य काव्य-कृति भी मिल सके।

(१) **रस-भूषण**—'रस-भूषण' नायक-नायिका भेदोपभेद-सम्बन्धी शृंगार रस का एक ऐसा उत्तम ग्रन्थ है जिसमें लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही दिये गये है। कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(क) अज्ञात यौवना—यथा —

> हँसि घाँसि के हरि निकसा, चित नहिं चेतु।
> काँपे कस मोरि देहिआँ, कहसि न हेतु ॥१२॥—रस-भूषण

नायिका के शरीर से अपना शरीर रगड़ते हुए हँस कर नायक निकल गया। नायिका का शरीर काँपने लगा। ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण वह नहीं बता पाती। इस रहस्य का उसे पता ही नहीं है, क्योंकि वह तो अज्ञात यौवना नायिका है।

(ख) ज्ञात यौवना—यथा—

> तोर नीक तरुनपवा, सखि कहि बांकि।
> सुनत सकुचि गइ तरुनी, तनु तन झाँकि ॥१३॥—रस-भूषण

'तुम्हारा तारुण्य भला (लुभावना) है।' चतुर सखि से सुनकर नायिका अपने शरीर पर दृष्टिपात करती हुई सकुचा गई।

(ग) ऊढ़ा नायिका—यथा—

> होन चहै भिनसहरा, जाइ न जाँनि।
> लपटि पियहि तिय सोवै, बढ़ पटु ताँनि ॥१४॥—रस-भूषण

प्रात काल होने वाला है नायक (प्रियतम) इस बात को जान न ले इसी कारण ऊढ़ा नायिका वस्त्र ओढ़कर प्रियतम से लिपट कर सोती है

रस-भूषण के वर्ण्य-विषय—रस-भूषण में रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' ने मंगलाचरण मे गणपति तथा शिवा के स्तवन के पश्चात् आश्रयदाता बाबू निहचल सिंह की प्रशस्ति वर्णित की है। स्वकीया के भेदों में मुग्धा के अन्तर्गत अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, नवोढ़ा तथा विश्रब्धा नायिकाओं के उदाहरण प्रस्तुत करके मध्या नायिका को ऊढ़ा, मध्या, धीरा, मध्याधीरा तथा मध्याधीराधीरा भेदों मे विभक्त करके कवि ने 'लक्षण अनुरूप' उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इसके बाद प्रौढ़ा नायिका के प्रौढ़ा धीरा, प्रौढ़ा अधीरा तथा प्रौढ़ा धीराधीरा रूपों में वर्णित करके साथ ही ज्येष्ठा, कनिष्ठा नायिकाओं का भी उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

परकीया नायिका के प्रकरण में अनूढ़ा तथा ऊढ़ा नायिका-कथन के बाद परकीया के भूत-गुप्ता, भविष्यगुप्ता, वर्तमानगुप्ता, वचन-विदग्धा, क्रिया-विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, सहेट-विघट्टना, अनुशायना, मध्या अनुशयना तथा तृतीय अनुशयना आदि भेदों के लक्षणानुरूप उदाहरण 'रस-भूषण' में कविराम ने उल्लिखित किए हैं। सामान्या नायिका के अन्य सभोगदुखिता, रूप-गर्विता तथा प्रेमगर्विता भेद ही 'रस-भूषण' में स्वीकार किए गए हैं। तदनन्तर अवस्था-भेद की दृष्टि से दस प्रकार की नायिकाएँ कविराम ने वर्णित की हैं। प्रसिद्ध अष्ट नायिकाओं में रस-भूषण के रचयिता ने प्रवासित भर्तृका तथा आगत पतिका दो और नायिकाएँ सम्मिलित करके इनकी संख्या दस कर दी है। इन दसों नायिकाओं को मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया तथा गनिका भेदों मे विभक्त करके यह संख्या पचास तक पहुँचा दी है। पश्चात् उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा नायिकाओं के उदाहरण 'रस-भूषण' में दिए गए हैं। सखी-कर्म तथा उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद से 'दूती' का विवेचन भी कविराम ने किया है।

नायक-वर्णन-क्रम में कविराम ने पति, उपपति तथा वैशिक भेद करके पति को अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट भेदों में विभक्त किया है। तदनन्तर चतुर्विध दर्शन तथा मान का वर्णन करके शृंगार के पूर्वानुराग, संयोग तथा वियोग भेद कविराम ने स्वीकार किए हैं। इसके बाद रस-भूषण में रचयिता ने स्तंभ, कंप, सुरभंग, वैवरन, आँसू, स्वेद, मलय तथा रोमांच सात्विक भावों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वियोग की दस दशाओं में कवि ने अभिलाष, चिंता, उद्वेग, प्रलाप, अस्मृति, गुण-कथन, जड़ता, सुमिरन तथा उन्माद ही वर्णित किये हैं। "दशम-दशा" मरण का उल्लेख 'रस-भूषण' में नहीं हुआ है। संज्वर का वर्णन न करके कवि ने 'सुमिरन' का वर्णन किया है। इसके साथ ही 'हाव वर्णन' में दसों हावों के उदाहरण प्रस्तुत करके कविराम ने कुल १४७ बरवै छंदों में 'रस-भूषण' ग्रन्थ को पूर्ण हुआ घोषित किया है।

'रस-भूषण' का साहित्यिक मूल्यांकन तभी सम्भव हो सकेगा जब इसका शोध-स्तरीय तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

(२) **स्फुट छन्द**—

विभिन्न संग्रह-ग्रन्थो मे रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' प्रणीत जो स्फुट छंद संगृहीत मिलते हैं, उन्हें नायिका-भेद, विप्रलंभ शृंगार, संयोग शृंगार आदि रूपों मे विभक्त किया जा सकता है। दो एक छंद सामान्य से हैं जिनके रचयिता के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ संक्षेप में उक्त छंदो को क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) **नायिका-भेद-संबंधी स्फुट छंद**—

वासक सज्जा

एकै दर परदा, किवार पोस छतैं एकै,
साजती है जरफ जवाहिर यों न्यारी को।
सेज ही सुधारैं एकै, रोशनी उज्यारे एकै,
बाँधती बंदनवारैं, झारैं फूल क्यारी को

'कविराम भूषन सँवारि के सुगंध लावै,
पट पहिरावै एकै, कलित किनारी को।
आगमन प्यारे को, न होहुँ कोऊ न्यारी आजु,
प्यारी को हुकम भयो, महल तयारी को॥

आगतपतिका

चंदन कपूर अरु केसरि अगर चूर,
कुंकुम गुलाब मेद, मृग मद गारौंगी।
मौलसिरी मालति के माधवी के हार भाँति,
भाँति के लसित चीर चुनि चुनि धारौंगी॥
हरस हिये का बाँह फरकि जनावति है,
'राम जू' प्रतीति मोहि अंगन सभारौंगी।
अंक भरि प्यारे को निसंक आजु भेटत ही,
दै कुच उरोजन पै, मैं मनोज मारौंगी॥

प्रोषित भर्तृका

मनहि मन भीतर सोचि रही, अपने नहि दुख कहौ पर सों।
कब होय घरी 'कविराम' भली, जब जा दिन जाइ पिया परसों॥
अब कासों कहौं कब आवेंगे मोहन आज कि काल किधौ परसों।
मन ऐसो करै उड़ि जाइ मिलै, कहु कैसे उड़ौं री बिना पर सों॥

परकीया कृष्णाभिसारिका

पावस की अधिक अँधेरी आधिराति समै,
कान्ह हेतु कामिनी यों कीन्हों अभिसार को।
"राम" कहै, चकित चुरैलें चहूँ अल्लै त्यों,
खबीस करि भल्लै चोटें चबित मसान को॥
बीछू बिस खाय रही, चाँपत चरन बीच,
लपटैं फनी जे गहि, पटकैं पछार को।
मृतक समान जेते मुंडन सके तो करि,
तुंबन की तरनि गई त्यों नद पार को॥

परकीया ऊढ़ा

साँवरो चारु सलोनी सी मूरति, बीथिन नें वह जात उतावरो।
तावरो आवत रूप लखै, करती मन मैं अति लाड लडावरो॥
डावरो जीवन है सबको, जिहि देखत सी करै मैन उभावरो।
भावरो जानत है 'कविराम' बड़े-बड़े नैन बड़े-बड़े साँवरो॥

वर्तमान गुप्ता

याहीं तें नीके परोस बसैं सब, अंत परोसहि होत सहाई।
आली है सौति मतो रसवादिनै, जानति है नहि पीर पराई॥
कान्ह उठा लियो मोहि दौरि, कहा कहिए 'कविराम' बड़ाई।
बैठि गई सुधि यों न रही- तन ऐसी कछू मोहि घूमरि आई॥

नायिका भेद-संबधी छन्दो को देखकर ऐसा आभास ही हो जाता है कि राम कवि

। कवित्त, सवैये आदि छन्दों में भी नायिका-भेद-संबंधी लक्षण-ग्रन्थ की रचना की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 'रस-भूषण' की रचना उक्त छन्दों के प्रणयन के बाद ही हुई थी।

(ख) विप्रलंभ शृंगार संबंधी स्फुट छंद—

कविराम की विरहिणी नायिका नायक के विरह में तो दुःखी है ही, वह इसलिए भी दुःखी है, क्योंकि वह पंखविहीना है। यदि उसके पंख हुए होते तो वह उड़कर शीघ्र ही अपने प्रियतम से जा मिलती।

मनहि मन भीतर सोचि रहौ, अपने नहिं दुख कहौं पर सों।
कब होय घरी 'कबिराम' भली, जब जा दिन जाइ पिया परसों॥
अब कासों कहौं कब आवैंगे मोहन आज कि काल्ह किधौं परसों।
मन ऐसों करै उड़ि जाइ मिलें, कहु कैसे उड़ोरी बिना पर सों॥

निम्नलिखित छन्दों में विरह-वर्णन 'बारहमासा' पद्धति पर किया गया है—

चौंकि उठि चपला छिन में घन घेरि चहूँ दिसि तें घुमरे हैं।
छोर दुहूँ भरि कै सलिता, बनिता सु-रंगी चुनरी पहिरे हैं॥
दादुर मोर चकोर सदा गति, कोकिल छेद हिये में करे हैं।
प्यारे सुजान बिना 'कविराम' सु कैसे असाढ़ के द्यौस परे हैं॥

आषाढ़ के महीने में नायिका के विरह का वर्णन रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' ने बड़ा ही उपयुक्त एवं सार्थक प्रस्तुत किया है—

काले जलधर चहूँधां तें झुकरत आवै,
दामिनी सोहावै सो जनावै दुख गाढ़ के।
झिंगुर, पपीहा, भेक सुक पिक मोर बोलें,
डोलत समीर सो करत आढ आढ के॥
कहै 'कविराम' पीरे अंकुर मही तें कढ़े,
बढ़ी पीर बनिता के देखें जल बाढ़ के।
काम के उमाहक, विरही जन दाहक ये,
आए प्रान गाहक बलाहक असाढ़ के॥

यह कवित्त 'षटऋतु हजारा' में 'पावस' शीर्षक के अन्तर्गत संगृहीत हुआ है। वस्तुतः यह वर्णन उद्दीपन रूप में हुआ है। कविराम ने इसमें विरहिणी नायिका की विरह-अवस्था को यथार्थमय साकार रूप प्रदान कर दिया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कविराम ने किसी ऐसे ग्रन्थ का भी प्रणयन किया था जिसमें बारहमासा पद्धति पर नायिका का विरह वर्णित था। खेद है कि इस सन्दर्भ में न तो अतिरिक्त छन्द ही सुलभ हैं और न कोई प्रामाणिक ज्ञातव्य ही। अतः इस सन्दर्भ में निश्चयपूर्वक अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

(ग) संयोग शृङ्गार सम्बन्धी स्फुट छन्द—

काम कला रस नागरि नारि गुनागरि नागर के चित भायो।
अधिक राति सों राधिका के बस होत भयो बसुदेव को जायो॥
कुच अग्र के मत्थ पै हत्थ धरै 'कविराम' यह उपमा सुख पायो।
बाज के त्रास मनो चकवा बलबाव के पात में मात छिपायो

'सुन्दरी तिलक' में सगृहीत एक सवैये में यही कल्पना वर्णित है। उक्त सवैये में रचयिता की छाप न होने के कारण उसके रचयिता का पता नहीं लगता।

आलंकारिक शैली में रचित कविराम के निम्न सवैये विशिष्ट महत्व रखते हैं—

बरसै जुरि के अति कारी घटा लखि बात न आवत है गरसैं।
गरसैं अब चाहत है बिजुरी बन के खग देखि सभै हरसैं॥
हरि सैं कोउ जाय कहैं बतियाँ, बुँदियाँ तन लागत हैं बरसैं॥
सरसै छबि साँवरे की 'कविराम' घटा अरि कै जुरि कै बरसै॥

यह सवैया 'कुण्डलियों' की भाँति जिस शब्द से प्रारम्भ है, उसी पर समाप्त हुआ है। साथ ही चरणान्त शब्द से अगला चरण प्रारम्भ हुआ है।

प्रेम का रहस्य

श्याम के प्रेम में नायिका इतनी तन्मय हो गई है कि उसे पिता और पति सभी समान दिखाई दे रहे हैं। अतः वह किसी से भी लज्जा नहीं कर पा रही है—

श्याम सरीर भयो कलपद्रुम, मैं हूँ भई प्रेम लता।
सो उरझाइ गयो 'कविराम' पै, को सुरझावत योग हुता॥
मन तो अटको मुरली धर सों, मन व्यापी गई तन की ममता।
हम कौन की लाज करैं सजनी, मेरो कंत को कंत पिता को पिता॥

निम्न छन्द से कविराम की आस्था नियतिवाद के प्रति मुखरित हो उठी है—

बन्धु विरोध करो सिगरो, झगरो नित होत सुधा रस चाटत।
मित्र करै करनी रिपु की, धरनीधर देखि न न्याव नियारत॥
'कविराम' कहै विष होत सुधा, घर नारी सती पति सों चित फाटत।
या विधना प्रतिकूल जबै, तब ऊँट चढे पर कूकर काटत॥

निश्चय ही रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' को जीवन का बड़ा ही कटु अनुभव था। भुक्त भोगी कवि ही ऐसे छन्द की रचना कर सकता है।

'रसभूषण' के रचयिता रामनाथ वाजपेयी 'कविराम' असंदिग्ध रूप में श्रेष्ठ कवि हैं। उनका कर्तृत्व हिन्दी जगत् में अभी तक भी दुर्लभ है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके समग्र कर्तृत्व की खोज करके उसका शोधसम्मत अध्ययन किया जाय। तभी हिन्दी जगत् में उनका उचित मूल्यांकन किया जा सकेगा।

५५९/१७, अरुण शोध सदन,
विजय पार्क, मौजपुर,
दिल्ली-११००५३

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रसनिष्पत्ति-विषयक मान्यता[1]

डॉ० योगेन्द्रप्रताप सिंह

जैन कवि तथा आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यगण एवं 'नाट्यदर्पण' द्वितीय के प्रणेता रामचन्द्र-गुणचन्द्र आचार्य द्वय रस की सुख-दुःखोभयात्मक परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

चित्तद्रुति, विकास, विस्तार से भिन्न विकलता, क्षोभ तथा विक्षेप उत्पन्न करने की प्रकृति से युक्त करुण, रौद्र, बीभत्स एवं भयानक इन चार रसों का स्वभाव दुःखमूलक एव शान्त रस सहित शेष का स्वभाव सुखमूलक है, इसके स्वीकर्ता आचार्यों में केवल रामचन्द्र-गुणचन्द्र ही नहो हैं। संस्कृत नाट्यशास्त्र में इसकी लम्बी परम्परा मिलती है। स्वभावतया भरत-कृत नाट्यशास्त्र मे ऋषियों एव देवताओं द्वारा दिये जाने वाले शाप एवं दानवों द्वारा नाट्य-मण्डप रचना को नष्ट-भ्रष्ट करके नटों को उत्पीड़ित करने के साक्ष्य का मन्तव्य यही है कि नाट्य में लोकानुवर्तिता समीचीन नहीं है। परिणामस्वरूप लोकवृत्त का सजातीय अनुकरण और उसको नाट्यधर्मी बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। नाट्य में अभिव्यक्त रस की सुख-दुःखात्मकता की जब चर्चा की जाती है तो उसका अर्थ मात्र लोकानुकृति से उत्पन्न सुख-दुःखात्मकता नहीं है। लोकधर्म मे 'सुख-दुःखात्मकता' का स्वरूप नाट्य रस के सुख-दुःखात्मक स्वरूप से भिन्न है। अतः जब नाट्य मे रस की सुख-दुःखात्मकता का उल्लेख किया जाता है तो उसका स्वरूप 'लोकवृत्तिमूलक' न होकर 'लोकवृत्ति-जैसा' समझा जाना चाहिये। इस सन्दर्भ में पुनः स्मरणीय है कि आचार्य द्वय ही इस सुख-दुःखात्मक परम्परा के एकमात्र आचार्य नहीं हैं।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से भिन्न 'लोकानुवृत्तिरूप' नाट्य सिद्धान्त के समर्थकों की सम्भवतया अपनी परम्परा रही है। भरत के प्रथम पुत्र कोहल के सन्दर्भ में संकेत है कि वे आचार्य भरत मत के सर्वथा समर्थक नहीं थे। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने सांख्य मतावलम्बियों की भांति एक अन्य आचार्य के मत को रस सूत्र के व्याख्याकारों की सरणि में रखा है जो रस की सुख-दुःखात्मकता का समर्थन करते हैं।

येन त्वभ्यधायि सुख-दुःखजननशक्तियुक्ता विषय-सामग्री वाह्यैव सांख्यदृशा सुख-दुःख-स्वभावो रसः।[2] आचार्य वामन रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं —

> करुण प्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुख-दुःखयोः।
> यथाऽनुभवतः सिद्धः तथैवोज प्रसादतः॥

अर्थात्, 'करुण' से सम्बन्धित नाटकों को देखने पर जिस प्रकार सुख-दुःखात्मकता का अनुभव किया जाता है, उसी प्रकार सहृदय जनों के लिए ओज तथा प्रसाद के मिश्रण का अनुभव होता है।

डॉ० वी० राघवन् के 'भोजाज़ शृंगार प्रकाश' के पृ० ४७१ पर आचार्य रुद्रट की 'रस-कालिका' का उल्लेख किया गया है जो इसी परम्परा से सम्बन्धित है—

"रसस्य सुख-दुःखात्मकतया तद्‌भव लक्षणत्वेन उपपद्यते।"

स्वयं आचार्य भोज भी रस की 'सुख-दुःखात्मकता' का समर्थन करते हैं—

"रसा हि सुख-दुःखावस्था रूपा"

दशरूपक में 'धनिक धनंजय' भी रस की इसी सुख-दुःखात्मकता की ओर संकेत करते हैं—

"सुख दुःखादि भावैभावस्तद्भाव भावनम्"

अर्थात्, "सुख-दुःख द्वारा हृदय के अन्तःकरण को भावित (भासित) करना भाव है और करुण आदि रसों में इसीलिए 'सुख-दुःखात्मकता' एकसाथ मिलती है।"

"तादृश एवासौ आनन्दः सुख-दुःखात्मकः"

आचार्य अभिनव गुप्त भी रसानुभूति को आनन्दपरक मानते हुए भी हास्य रस के स्वभाव को करुण रस के विपरीत बताते हैं।

'......हास्य निरपेक्षभावत्वात् द्विपरीतः करुणः'। अर्थात्, हास्य का विपरीत यह करुण आनन्द-निरपेक्ष है। यही नहीं, उन्होंने करुण रस को आनन्द-स्वरूप न मानकर मात्र आस्वाद-स्वरूप माना है—

'तस्मात् करुण इति शोकस्य सर्वसाधारणत्वेन प्राकउक्त्या आस्वादनस्य संज्ञा'

मधुसूदन सरस्वती 'भगवद्भक्तिरसायन' के अन्तर्गत रस में मात्र सत्वोद्रेक ही नहीं मानते। भट्टनायक के ठीक विपरीत 'तम एवं रज' के अनुवेध सिद्धान्त को न मानकर वे सभी रसों में 'तम एवं रज' का आवेश स्वीकार करते हैं। तम एवं रज के इस आवेश से प्राकृत काव्य रस 'सुख-दुःखात्मक' होता है।

"सत्व गुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखरूपेत्वेऽपि रजस्तमोऽशं मिश्रणात् तारतम्यम् अवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तारतम्य सुखानुभवः"

'नम्बर ऑव रसाज़' में डॉ० वी० राघवन् ने 'संगीत सुधाकर' के रचयिता हरिपालदेव के सम्बन्ध में इस तथ्य को पुष्ट किया है।

'मलिन दुःखकारी च विप्रलम्भो प्रियावहः'[3]

मधुसूदन सरस्वती को छोड़कर प्रायः सभी अभिमत आचार्य द्वय के पूर्व के हैं और इन सभी के देखने पर इस मत की तीन परम्पराओं का अनुमान होता है।

१. सम्पूर्ण रसों की सुख-दुःखात्मकता का सिद्धान्त—सांख्यमत, भोज, मधुसूदन सरस्वती।
२. करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानक की दुःखात्मकता एवं शेष ५ रसों की सुखात्मकता का सिद्धान्त।
३. शृंगारादि का सुखात्मक रूप, किन्तु करुण-रौद्रादि का दुःखात्मक स्वरूप।

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वितीय मत का समर्थन करते हैं। उनके मत से रस सुख दुःखो-भयात्मक है। उनके इस सिद्धान्त की पर्याप्त रूप से चर्चायें मिलती हैं। अतः इस निबन्ध के द्वारा इस विषय की पुनरुक्तियों का पिष्टपेषण करना समीचीन नहीं है। यहाँ मात्र इतना प्रयोज्य है कि इस 'सुख-दुःखात्मक' रस की निष्पत्ति के हृदय में कैसे होती है?

रस को परिभाषित करते हुए आचार्य द्वय इसे चित्तवृत्तिविशेष रूप मानते है।

'चित्तवृत्ति विशेषश्च रसः'

इस चित्तिवृत्ति-विशेष का केन्द्र कौन है, इसका उत्तर देते हुए वे बताते हैं—

'रसश्च मुख्य लोकगतः प्रेक्षकगतः काव्यस्य श्रोतृ अनुसंधायक द्वय मतोः ......।'

अर्थात्, नाटक के अन्तर्गत रस मुख्यतः लोकगत (अनुकार्यगत) एवं प्रेक्षकगत तथा काव्य के अन्तर्गत कवि एवं श्रोतागत है।

इस रस की निष्पत्ति कैसे होती है ? वे समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते है—

"उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवतीति"

'विभावैर्ललनोद्यानादिभिः आलम्बोद्दीपनरूपैः बाह्यहेतुभिः सत् एव आविभावत् व्यभिचारिभिः ग्लान्यादिभिः रसिकमन शरीर वर्तिभिः परिपोषणाच्च-स्वकृतसाक्षात्कारित्वानुभयमानावस्थो यथासम्भवं सुख-दुःख स्वभावोरस्यते आस्वाद्यते इति रसः।"

उपचय अर्थात् परिपोष को प्राप्त करके रत्यादि रसरूप हो जाते हैं।

ललना और उद्यानादि आलम्बन तथा उद्दीपन रूप बाह्य हेतुओं के द्वारा पूर्व से ही विद्यमान का आविर्भाव होने से, रसिकों के मन में विद्यमान ग्लानि आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्ट होने के कारण (नट मे स्वरूप से दृश्यमान रोमांचादि अनुभव के कारण) उत्कर्ष प्राप्त अर्थात् साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्था को प्राप्त होने वाला यथासम्भव (सुख-दुःखात्मक प्रकृति के अनुकूल) उभयात्मक आस्वाद्मान होने से 'रस पद' से बोधित होता है।

१. ललना-उपानादि आदि आलम्बन एवं उद्दीपन रूप बाह्य हेतु लोकात्मक एवं काव्य-वर्णित होते हैं। ये अपनी पूर्वावस्था में ही नट द्वारा मंच पर बाह्य हेतु के रूप में आविर्भूत किये जाकर रस के लिए बाह्यहेतु का कार्य करते हैं।

२. रसिकों के मन में स्थित ग्लानि आदि संचारियों से स्थायीभाव परिपुष्ट होता है।

३. नट में स्वरूप में दृश्यमान रोमांचादि भाव उसकी तन्मयीभूतता के कारण सामाजिक को यथास्थित सुख-दुःखात्मक रससत्ता का निश्चय कराते हैं। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य द्वय कहते हैं—

"परस्थानपि रसानव बोधयन्ति इति अनुभावाः। स्तम्भस्वेद अश्रु रोमांच भ्रूक्षेपादय तैर्यथासम्भवंसत्तया निश्चयेयः।"

इनके अनुसार सामाजिक के आस्वाद का विषय बनने के लिए अनुभावों की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—

—परगत विभावाद्यनुक्रियां च पर रंजनार्थं प्रवृत्त नटस्य रसाभावेऽपि स्तम्भ स्वेदादयो भवन्ति। नटा हि स्तम्भस्वेदादयः प्रेक्षकगतरसानां कारणम्। प्रेक्षाकास्तु कार्याणि।

दूसरों के मनोरंजन के लिए, दूसरों में रहने वाले विभावादि के अनुकरण में प्रवृत्त होने वाले नट में रससत्ता का अभाव होते हुए भी स्तम्भस्वेदादि से तन्मयीभूत होने के कारण उन्हें रस से अविनाभूत नहीं मानना चाहिए। इस दृष्टि से रस नटगत भी है। आचार्य द्वय ने अतिरेकवशात् यहीं भूल कर दी है कि स्तम्भादि अनुभावों से प्रतीत होता हुआ रस नटगत भी है और वह अनुकरण व्यापार से सिद्ध है। इसके लिये वे तर्क देते हैं—

'नटेऽपि च रसं गमयन्त्येव रसकार्यांभवन्ति ......पुष्यस्त्रियो हि धनलोभेन परत्यर्थं इत्यादि

विपंचयन्तः स्वयमपि रंजयन्ते । एवं नटोऽपि रामादिगतं विप्रलम्भादि अनुकुर्वमाणः कदाचित् स्वयमपि तन्मयी भावमुपयाति ।

जैसे धन के लोभ से वेश्याएँ दूसरों के लिए रतिसुख का अवसर देती हुई अत्यधिक आनन्द प्राप्त करती हैं और गायक गायन करते हुए स्वतः भी आनन्द-मग्न होते हैं, उसी प्रकार नटादि भी रामादिगत विप्रलम्भ शृंगार का अनुभव करते हुए कदाचित् तन्मय हो जाते हैं। नट में स्तम्भादि कृत्रिम एवं अर्जित होते हैं। आचार्य द्वय 'कदाचित्' शब्द का प्रयोग करते हुए भी नट में रससत्ता के होने का समर्थन करते हैं।

आचार्य द्वय रस की तीन श्रेणियाँ बताते हैं—

१. आत्मीय जनों से सम्बद्ध शोकादि भोगविशेष-विषयक शृंगार रस है। इसी प्रकार अन्य लोकात्मक रसों का आस्वाद है।
२. अन्य से सम्बद्ध अनेक व्यक्तियों का शोक-सामान्य-विषयक करुण रस है। इसी प्रकार शृङ्गारादि भी हैं।
३. इन दोनों से भिन्न वास्तविक लोक में न घटित होने वाला काव्य तथा नाट्य आदि के द्वारा प्रस्तुत विद्यमान की भाँति प्रतीत होने वाला विभावादि से सम्बद्ध शोकादि नियत-विषयक करुणादि रस होता है। रस नियत-विषयक वासना की स्मृति है जो लोक में विशेष-विषयक या सामान्य-विषयक अनुभव के आधार पर जाग्रत होती है। वे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"न रामस्य सीतायां शृङ्गारे अनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीताविषयः शृंगार समुल्लसति। अपितु तु सामान्य स्त्रीविषयः नियतविषय स्मरणी-स्मरणादीनां स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियत विषय एव रसास्वादः।"

राम के सीता-विषयक शृङ्गार का अनुकरण होने पर भी सामाजिक में सीता-विषयक (अर्थात् व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध) शृंगारानुभूति नहीं होती है। लोक में नियत-विषयक ही रसास्वाद होता है।

वे यहीं लोक-वासना एवं रस-वासना में अन्तर स्थापित करते हैं। विशेष एवं सामान्य विषयक लोकात्मक रसास्वाद एक-दूसरे के लिए व्यवच्छेदक होते हैं, किन्तु काव्यादि में स्मरणादि से भोगा जाता हुआ रस प्रतिक्षेप रूप नहीं होता—

"तथा अपरमार्थसतां अभिनय काव्यार्पितानां च विभवाना बहुसाधारणत्वात् यः एकस्य रसास्वादः सोऽन्या प्रतिक्षेपात्मा इति अयोग्य व्यवच्छेदनेन न पुनः अन्य योग व्यवच्छेदेन।"

अर्थात्, लोक में असत्य होते हुए भी, किन्तु नाट्य तथा काव्य के द्वारा समर्पित (स्वीकृत) विभावों के अनेक पुरुषों के समान होने से (अर्थात् साधारणीकरण न्याय से) जो उन बहुत से सामाजिकों में किसी एक का रसास्वाद है, वह दूसरे के लिए व्यापक नहीं है। इसीलिए किसी का भी रसास्वाद किसी के लिए भी बाधक नहीं है क्योंकि रस सभी की वासना-स्मृति का भोग है। इस प्रकार बाधक न होने के कारण उस विशेष सामाजिक में अयोग व्यवच्छेद (अवश्यम्भावी रूप से वर्तमान) अन्य के लिए व्यवच्छेदक नहीं है।

आचार्य द्वय का यह रस विवेचन इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. विभावानुभाव से उपचित स्थायी ही रस है।
२. विभाव और स्थायी के बीच हेतु एवं फल का सम्बन्ध है

३. संचारि का अर्थ है सामाजिकगत संचारि। संचारि एव सामाजिक के स्थायी के बीच पोष्य-पोषक सम्बन्ध है।

४. नट के अनुभाव एवं सामाजिक के स्थायी के बीच निश्चेयक-निश्चेय सम्बन्ध है।

५. रस का अर्थ है लोकानुभूत वासना की स्मृति का आस्वादन।

सामान्य स्मृति एवं वासनात्मक स्मृति में अन्तर है। शायद इसी अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य भट्टनायक ने संकेत किया है, "भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादि विलक्षणेन", अर्थात् भावकत्व व्यापार से सिद्ध साधारणीकृतावस्था 'अनुभूति एवं स्मृतिरूपता' से विलक्षण है। 'अनुभूति' शब्द योगदर्शन के अनुसार लोक में पदार्थ के संसर्ग में आने का फल है। अनुभूति का बुद्धि में लुप्त न हो जाना ही स्मृति है।

"अनुभूतः प्रमाणादिभिः ज्ञातः यो विषयः
तस्य अविकला उपस्थितिः स्मृतिः"

अर्थात्, अनुभूत विषयों का चित्त में उपस्थित बने रहना (लुप्त न होना) स्मृति नामक वृत्ति है।

अनुभूति एवं स्मृति के बीच स्वव्यंजकांजन सम्बन्ध है। अर्थात् स्मृति की उसके उद्बोधक द्वारा अभिव्यक्ति होती है।[४] और वह अनुभूति-रूप बुद्धिदशा पुनः स्मृति बन जाती है।

अनुभूति के भी पाँच प्रकार हैं—

१. प्रमाण रूप
२. विपर्यय रूप
३. विकल्प रूप
४. निद्रा रूप एवं
५. स्मृति रूप

स्मृति के दो प्रकार हैं—

१. कल्पित स्मरणीय स्मृति
२. यथार्थ स्मरणीय स्मृति

'लोकानुभूत वासना' प्रमाण-रूप अनुभव है, किन्तु पदार्थ-रूप अनुभव से भिन्न है। रति की भोगी हुई वासना की स्मृति अनुभव की यथार्थ स्मृति है, कल्पित स्मरणीय नहीं। काव्य में अभिव्यक्त विषयों से सहृदय के हृदय में जागृत रतिजन्य शृंगार न व्यक्ति-विशेष की व्यक्तिगत अनुभूति की स्मृति है, न समूह के रति की अनुभूत स्मृति, अपितु उनसे भिन्न नियत-विशेष के अनुभव की स्मृति है। काल्पनिक होते हुए भी रतिवासना की स्मृतिजन्य प्रतीति इसमें बनी रहती है, अन्यथा सामाजिक के मन में शृङ्गार के स्थान पर करुण की प्रतीति क्यों नहीं होती? आठों या नवों वासनाएँ (स्थायीभाव) स्मृतिबल से सामाजिक के मन में भिन्न-भिन्न रूप से आस्वादित होती हुई अपने स्वभावानुसार सुख-दुःखात्मक प्रतीति-रूप रस को आस्वादन का विषय बनाती हैं। यहाँ स्मृति का अर्थ स्मरणकर्ता की ज्ञानात्मक बुद्धि का अनुसरण नहीं— यहाँ वासना के भोगात्मक अनुभव की कलाजन्य काल्पनिक प्रतीति है। यह आचार्य भट्टनायक के 'अनुभव' एव 'स्मृति' शब्दोल्लेख से सर्वथा भिन्न है।

आचार्य द्वय का यह विवेचन आचार्य भट्ट लोल्लट, संकुक भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है

भट्ट लोल्लट के अनुसार रस मुख्य रूप से अनुकार्य में है। 'तद्रूपतानुसन्धानबलात्' वह नट में है। दर्शक किस प्रकार नट में स्थित रस का आस्वादन करता है, इसका स्पष्ट संकेत नहीं है, फिर भी ऐसा लगता है कि नट के आरोप-रूप नाट्याभिमान की चमत्कृति से उसे रसास्वादन हो जाता है। किन्तु आचार्य द्वय यह मानते हैं कि रस अनुकार्यगत है। अभिनव कौशल से वह अनुकर्तागत होता है और सामाजिक अनुकर्ता में अनुभवों की तन्मयीभूत अभिव्यक्ति देखकर अपनी पूर्व भोगी हुई लोकात्मक वासना की स्मृति के भोग से रसास्वादन करता है। भट्ट लोल्लट स्थायी-भाव की उपचितावस्था को रस मानते हैं और आचार्य द्वय भी, किन्तु अन्तर इस तथ्य में है कि लोल्लट के अनुसार वह अनुकार्य का स्थायीभाव है, किन्तु इनके अनुसार लोकतः अनुकार्यगत है, अभिनय-काल में नट का है, प्रेक्षण-काल में सामाजिकगत है।

नट कैसे अपने को रसदशा तक पहुँचाता है, इस सम्बन्ध में आचार्य द्वय किसी सिद्धान्त का उल्लेख नहीं करते। वह सामाजिक की भाँति वासना की स्मृति का भोग अभिनय-काल में नहीं कर सकता, क्योंकि अभिनय-व्यापार एक प्रकार से काव्य के कलात्मक व्यापार का ही समानधर्मी है। इस व्याख्या से अनुकर्ता नट द्वारा रसास्वादन की समस्या हल नहीं हो सकती, किन्तु इतना तो सत्य है कि वह वासनात्मक स्मृति की प्रतीति के लिए हेतु का कार्य अवश्य करता है।

आचार्य अभिनवगुप्त विभावानुभाव व्यभिचारी हेतुओं से अनादिकालीन संचित वासना के उद्रेक को रसानुभूति या रसचर्वण मानते हैं। 'वासना का उद्रेक' एवं 'वासना की स्मृति का भोग' ये दोनों दो तत्त्व हैं। अभिनवगुप्त पादाचार्य के अनुसार साधारण्यबलात् उसमें वैयक्तिकता-लोकात्मकता के 'स्व-पर' रूप वासनाभिमान के समाप्त हो जाने पर कलात्मक विलक्षणता के कारण वह अनुभव लोकात्मक वासना के अनुभव से भिन्न हो जाता है। इस प्रकार दोनों के बीच भौतिक अन्तर यह है कि वासना का निरपेक्ष उद्रेक रसप्रतीति या रसचर्वणा है, किन्तु आचार्य द्वय के अनुसार वासना की स्मृति का भोग ही रस है। लोकात्मकता की समाप्ति कलात्मक से प्रेरित होने के कारण घटित होती है। इस प्रकार लोकात्मक अनुभव की समाप्ति के हेतु के रूप में दोनों कलात्मक विलक्षणता को स्वीकार करते हैं, किन्तु 'स्मृति' के लिए पूर्वानुभव की सत्ता आवश्यक है, इसलिए आचार्य द्वय अनुकार्य एवं अनुकर्ता दोनो में रससत्ता को स्वीकार करते हैं।

भट्टनायक भावना व्यापार को आस्वादन के हेतु के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु आचार्य द्वय के अनुसार वासना की स्मृति रसोत्पत्ति का हेतु है। वासना का स्मृति के कारण साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्था को प्राप्त होने वाला सामाजिक का परिपुष्ट स्थायी भाव 'आस्वाद्यते इति रसः' सिद्धान्त के अनुसार 'रसदशा' को प्राप्त होता है। रस चित्त के द्वारा भोग्य है, किन्तु नायक के अनुसार सांख्य के पुरुषतत्त्व के द्वारा वह निर्लिप्त भाव से भोगा जाता है।

इस प्रकार आचार्य द्वय की यह मान्यता स्पष्ट रूप से सिद्ध करती है कि काव्य का रसास्वादन-व्यापार ब्रह्म के साक्षात्कारात्मक अनुभव के समान विलक्षण अनुभव नहीं है। उसमें जो कुछ भी लोकात्मक अनुभव से भिन्न विशिष्टता आती है, वह उसके कलात्मक स्वभाव के कारण। इसको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि बाह्यस्थित मोदकास्वादन की भाँति रस बाह्य नहीं है। रस सामाजिक का ही अन्तर्वर्ती तत्त्व है। वह काव्यादि में नहीं है। न काव्य रस है और न रस को काव्य ही माना जा सकता है। वह अचेतन काव्य का आधेय नहीं हो सकता क्योंकि काव्यार्थ को समझ लेने के पश्चात् ही प्रेक्षक या श्रोता के भीतर रस का आविर्भाव होता है और वे अपने मे ही रहने वाले सुखादि के समान रस का करते हैं। रस लोकोत्तर नहीं है। लोकोत्तर उसे इसलिए कहा जाता है कि प्रेक्षकादि में रहने वाला रस असत् विभावों से उत्पन्न एवं अस्पष्ट

अनुभाव व्यभिचारी से युक्त रहता है कला एवं कल्पना के संयोग से उसमें सर्वसाधारण को मानसिक रूप से विवश करके एक धरातल पर ले आकर स्थित कर देने की नैसर्गिक क्षमता आ जाती है। इसे न्याय में—'साधारण्योपाय बलात्' कहा जाता है तथा इसी के धर्म के कारण वह साधारणीकरण नाम से पुकारा गया है। इस क्षमता से काव्य एक क्षण के लिए मानव-मन को लोकात्मक प्रपंचों से विरत कर देता है। यह चित्त की एक अनिवार्य दशा है और वह कवि-कौशल एवं कलात्मक सर्जना-शक्ति के कारण उसमें स्वतः उत्पन्न होती है। काव्यादि कलात्मक सौन्दर्य के सम्पर्क में आने पर साधारणीकरण की प्रक्रिया मानव-स्वभाव की विवशता है। साधारणीकरण कलात्मक से भिन्न एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। योगभाष्य के अन्तर्गत चित्त की इस दशा को 'साधारण' नाम से ही पुकारा गया है।

"बहुचित्तालम्बिनी भूतमेकं वस्तुसाधारणम्। तत्खलुनैक चित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्त-परिकल्पितं, किन्तु स्वप्रतिष्ठम्।"

अनेक चित्तों में अवलम्बन बने हुए एक वस्तु (ज्ञान) को साधारण कहा जाता है। 'समान साधारणं यस्य तादृशं भवति', अर्थात् अनेक चित्तों द्वारा जो समान रूप से धारण किया जाता है, वह साधारण है, और न वह उन ज्ञानों में से किसी एक द्वारा परिकल्पित होता है और न उन अनेक ज्ञानों के द्वारा परिकल्पित है।[५] इन दोनों से भिन्न वह अपने निजी स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। उसके इस निजी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—इस दशा में न चित्त को सुखात्मक अनुभव होता है, न दुःखात्मक अनुभव, न मोहात्मक और न निर्लेपात्मक। चित्त-दशा मे योगादि की भाँति उत्पन्न होने वाला यह 'साधारण-व्यापार' कलात्मक सौन्दर्य एवं काव्य की काल्पनिक विलक्षणता से भी उत्पन्न होता है, किन्तु बौद्धिक व्यापार में यह स्थिति नहीं होती। इस साधारण चित्तदशा से विवशीभूत बुद्धि के आस्वादन-कर्म का स्वरूप चमत्कारपूर्ण होता है और इसी के कारण भ्रमवश काव्य के अनुभव को लोकोत्तर एवं 'ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्' जैसा मान लिया जाता है। आचार्य द्वय रस की लोकोत्तरता का निषेध करते हैं।

सामाजिक अनुकार्य तथा अनुकर्ता में अभेद कैसे स्थापित करता है, आचार्य शंकुक के अनुसार इसके तीन हेतु हैं—

१. अभिनय कला का वैशिष्ट्य जो नट द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।
२. रचनाकार का रचनात्मक कौशल या रचना-सौन्दर्य।
३. नट द्वारा अभिनय-काल में आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रस्तुत लोकप्रतीति के सहकारी रूप हर्षादि संचारी भाव।

इन तीनों के द्वारा 'लिङ्गबलात्' नट में स्थित अनुकार्य के स्थायी को अनुमान-व्यापार से सामाजिक रस मान लेता है। इस सम्बन्ध में आचार्य द्वय चार मत प्रस्तुत करते हैं जो शंकुक मत से ईषद् भिन्न है—

१. रामादि के संकेत को समझने में निपुण मनोहर संगीतादि के श्रवण से विवश चतुर्विध अभिनयों के उपस्थित होने पर सामाजिक 'मोहवशात्' नट में राम अध्यवसित मान लेते हैं।
२. राम का निश्चय करने वाले संकेत संगीत तथा अभिनयादि हेतुओं के उपस्थित होने पर मनोरंजन के साथ-साथ कर्तव्य का उपदेश देने के लिए नटादि को असत्य मानते हुए भी हेय के त्याग अथवा उपादेय को ग्रहण करने के निमित्त उसे दर्शक सत्य की भाँति स्वीकार करके ग्रहण के लिए तत्पर हो जाते हैं।
३. अनुकार्य पुरुषों की इस प्रकार की आकृति, इस प्रकार की गति, इस प्रकार की बातचीत, इस प्रकार की क्रोधादि चारुता थी, त्रिकालज्ञ ऋषियों द्वारा रामादि के चरित्र-[illegible] द्वारा

ही कविगण नाटक में उसकी रचना करते हैं और नट उन्हीं निर्देशों के अनुसार सज्जा एवं अभिनय में रत होते हैं। अतः मुनिजनों के विश्वास के कारण नट का राम के रूप में दर्शन साक्षात् राम का दर्शन बन जाता है।

४. कवियों द्वारा ज्ञानचक्षु से देखे हुए चरित्रों को नट जन अत्यधिक कौशल से वास्तविक रूप से देखे गये दृश्यों से भी अधिक सुन्दर अभिव्यक्ति प्रस्तुत करके अपने में कृत्रिम रामादि का भ्रम उत्पन्न करते हैं। यह भ्रम रसप्रतीति का कारण बनता है। लोकात्मक साक्ष्य भी इसका समर्थन करता है।

"उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि-शृङ्गारादयः। कामिनी वैर चौरादीन् अधिस्वप्नमभिपश्य तः पुंसा·· ·········स्तम्भादयोऽनुभावः प्रादुर्भवन्ति।"

ये चारों सिद्धान्त परम्परा के हैं। इनमें आचार्य शंकुक के 'लिङ्गबलात्' और भट्ट लोल्लट के 'तद्रूपतानुसंधान बलात्' सिद्धान्तों की भी व्यंजना (नट की तन्मयीभूतता) में हो जाती है। फिर भी, व्यवस्थित रूप से इन चारों का उल्लेख भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में पहली बार मिलता है।

निश्चित रूप से आचार्य द्वय का यह रस-विवेचन भरत के मतानुकूल नहीं है। भट्ट लोल्लट एवं श्री शंकुक की मान्यता भी तो भी भरत के विरुद्ध है। यहीं नहीं, आचार्य लोल्लट की मान्यता सर्वाधिक प्राचीन परम्परा के अनुरूप, साथ-साथ दार्शनिकता से आविष्ट नहीं है। श्री शंकुक से पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त भरत के रससूत्र की व्याख्या दार्शनिकता के सापेक्ष्य में हुई है। लोकात्मक भाव एवं मनोविकार के प्रकाश में दार्शनिकों की बहसों से दूर हटकर आचार्य द्वय ने अपनी यह व्याख्या प्रस्तुत की। आचार्य भरत से भिन्न नाट्य के 'लोकवृत्तानुकृति' समर्थकों की अपनी भिन्न परम्परा रही है। यह परम्परा ईसा पूर्व की शतियों से चलती रही है। यह शायद भरत से भी प्राचीन हो। पाणिनी का एक सूत्र है 'रसादिभ्यश्च', जिसका अर्थ है—रस है जिसका, या रस है जिसमें। इसमें मतुप् प्रत्यय के अर्थ में ठन् प्रत्यय का प्रयोग करके 'रसिक' शब्द बनाया गया है। इस शब्द का अर्थ है—रस है जिसमें या रस है जिसका। महर्षि पतंजलि (ई० पू० दूसरी शती) महाभाष्य में इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'रसिको नटः', जिसका अर्थ है—'रस भोक्ता नट है' या 'नट में रस है'। अनुकर्ता में रस की परिकल्पना यथार्थवादियों की है। आचार्य लोल्लट से लेकर रामचन्द्र-गुणचन्द्र तक कई आचार्य भरत से भिन्न मत प्रस्तुत करते हुए किसी न किसी रूप में इस परम्परा से जुड़े हुए मिलते हैं।

संदर्भ-संकेत

१. नाट्यदर्पण—प्रधान सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, प्रकाशक—हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृ० २८० से ३०३ तथा पृ० ३५२, ३५३ के आधार पर। २. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ४६१। ३. वही, पृ० १४२। ४. योग-भाष्य सूत्र सिद्धिः, समाधिपाद व्याख्याकार—डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ० ५२। ५. देखिये, योगभाष्यसूत्रसिद्धिः, डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव।

रीडर, हिन्दी-विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

औपनिषदिक विचारधारा में ईश्वर की परिकल्पना

□

डॉ० प्रमिता अग्रवाल

ऋग्वेद में कर्मकाण्ड के मध्य नासदीय सूक्ति (ऋ० १०/१२६) से दार्शनिक विचारधारा का जो स्रोत फूटा, वह उपनिषदों में पूर्ण प्रवाह को प्राप्त हुआ। वेद में 'बल' के रूप में सुरक्षित उस एक अद्वितीय तत्व का ब्रह्म, ईश्वर, ईशान, ईश, देव, पुरुष, हर, रुद्र, प्रभु, भगवान् आदि विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया। यह सत्तत्त्व जो वेद में समष्टि का शासक था, उपनिषदों में 'आत्मतत्त्व' की संज्ञा से विभूषित हुआ। इस प्रकार औपनिषदिक मंत्रद्रष्टा आत्मकेन्द्रित होते गये, फलस्वरूप उपनिषदों में गहन, गम्भीर और गूढ़ दार्शनिक विचारधारा अभिव्यक्त हुई।

उपनिषदों में ईश्वर का कहीं स्पष्ट लक्षण या परिभाषा नहीं प्राप्त होती, तथापि इतना निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ईश्वर ब्रह्म अथवा एक अद्वितीय सत्तत्त्व की ही अन्य संज्ञा है। इस बात का भी उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता कि ब्रह्म ही ईश्वर है, किन्तु अनेक तर्क-वितर्कों के पश्चात् विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्म ही ईश्वर है। औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार ब्रह्म इस जगत् का एकमात्र कारण है। इसके साथ ही ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ही यह घोषित कर दिया गया है कि जो कुछ चराचर स्थावर जङ्गम है, सब ईश्वर से ही व्याप्त है।

अद्वैतवाद का सर्वप्रथम सिद्धान्त है—विवर्तवाद। विवर्तवाद का प्रतिपादन उपनिषद् में स्पष्ट रूप से मिलता है जिसके द्वारा यह सब व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप, काल का कर्ता, अपहत-पाप्मत्वादि गुणसम्पन्न तथा सर्ववेत्ता है, उससे ईशित-शासित, प्रेरित होकर यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जगत् रूप से विवर्तित होते हैं। 'जगत्' रूप से विवर्तित होने वाला चैतन्य तत्त्व ईश्वर ही है। विवर्तवाद के अनुसार सत्य वस्तु पर असत् वस्तु का आरोपण हो जाता है, जैसे सत्य रज्जु में असत् सर्प का भ्रम हो जाता है। अधिष्ठान का सत्य होना आवश्यक है। असत् पर असत् का आरोपण असम्भव है। इसी प्रकार सत्तत्व ईश्वर अधिष्ठान है जिस पर असत् जगत् अध्यस्त है।

विवाद का विषय यह है कि निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्म ईश्वर है अथवा मायोपाधिक ब्रह्म ईश्वर है। अधिकांश आधुनिक विद्वानों का मत है कि परब्रह्म जब माया की उपाधि से अपहित हो जाता है, तब 'ईश्वर' कहलाता है। उनके अनुसार—ब्रह्म + माया = ईश्वर। यह मायोपाधिक ईश्वर सृष्टि करता है जो सगुण, सोपाधिक, सविशेष, सप्रपञ्च, अपरब्रह्म इत्यादि नामों से जाना जाता है। वस्तुतः इन विचारकों का मत है कि परब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष अविकारी होने के

कारण सृष्टि कर ही नहीं सकता। प्रवृत्ति उस परब्रह्म के स्वभाव के विरुद्ध है। परन्तु चूँकि दृश्यमान जगत् का निषेध नहीं किया जा सकता, उसका कारण बताना आवश्यक है, इसलिए माया शक्ति को स्वीकार किया जाता है जिससे युक्त होकर ईश्वर सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है। इससे यह प्रकट होता है कि मायोपाधिक स्रष्टा ब्रह्म ही ईश्वर है, परब्रह्म नहीं। अनभिव्यक्त ब्रह्म का एक अभिव्यक्त रूप ईश्वर है। इस प्रकार ईश्वर की एक व्यक्तित्व-रूप में कल्पना कर ली जाती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म का दो रूपों में वर्णन किया गया है—मूर्त और अमूर्त। अमूर्त ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है और मूर्त ब्रह्म सगुण। निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का विषय है और सगुण ब्रह्म उपासना का। निर्गुण ब्रह्म परब्रह्म है और सगुण ब्रह्म अपरब्रह्म। शंका यह उठती है कि—

१. ईश्वर निर्गुण ब्रह्म है अथवा
२. ईश्वर सगुण ब्रह्म है अथवा
३. दोनों प्रकार का ब्रह्म ईश्वर है।

अद्वैतवाद का यह सतत घोष है कि ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। ईश्वर यदि सगुण ब्रह्म होता तो ज्ञान के विषय के रूप में उसे कहीं भी प्रस्तुत न किया जाता। सर्वत्र उसके उपास्य रूप के ही दर्शन होते। इसके विपरीत उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि ईश्वर को जानकर—ज्ञात्वा, विदित्वा—ही मोक्ष मिलता है (श्वे० ३/७)। भूत, भविष्यत् का स्वामी वह पुरुष अमृतत्व का ईश्वर है।[५] यह अमृतरूप ईश्वर जगत् का शासक और रक्षक है (श्वे० ६/१७)। यही ईश्वर सर्वज्ञ, काल का कर्ता, सर्ववेत्ता तथा संसार की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है (श्वे० ६/१६)। वह एक ईश्वर समस्त देवताओं को पुनः-पुनः उत्पन्न करता है तथा उन पर आधिपत्य स्थापित करता है (श्वे० ५/३)। इस प्रकार की महिमा से सम्पन्न ईश्वर का साक्षात्कार कर समस्त शोकों से मुक्ति हो जाती है।[६]

मायोपाधिक ब्रह्म सगुण ब्रह्म है। यही उपास्य ब्रह्म है, कार्यब्रह्म है तथा ब्रह्म और हिरण्यगर्भ भी यही है। ईश्वर मायोपाधिक ब्रह्म नहीं है, इस तथ्य का स्पष्टीकरण हिरण्यगर्भ के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है—

१. हिरण्यगर्भ उत्पत्तिशील ब्रह्म है और इसका जनक ईश्वर ही है (मु० १/१/९)। जन्य और जनक कभी एक नहीं हो सकते। अतः ईश्वर सगुण ब्रह्म नहीं है।
२. हिरण्यगर्भ सोपाधिक ब्रह्म है। सोपाधिक वस्तु उपाधि की बाधा के कारण स्वच्छन्द रूप से सबके अन्दर स्थित नहीं हो सकती। इसके विपरीत ईश्वर का सूक्ष्मतम और महत्तम रूप में वर्णन मिलता है (मु० ३/१/२)। यदि ईश्वर सगुण ब्रह्म होता तो इसके लिए 'यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्' इस प्रकार का वर्णन नहीं उपलब्ध होता। अतः ईश्वर सगुण ब्रह्म नहीं है।
३. ईश्वर को परब्रह्म कहा गया है (श्वे० ३/२०)। परब्रह्म निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म ही है, सगुण नहीं है।
४. सगुण ब्रह्म कार्यब्रह्म होने के कारण विनाशी है जबकि ईश्वर सृष्टि का कर्ता तथा भरण-पोषण करने वाला है (श्वे० १/८)। वह भूत, भविष्यत् का शासक है। वह प्रकाश-स्वरूप और अविनाशी है (श्वे० ३/१२)। इस प्रकार अमरणधर्मा, नित्य, ध्रुव होने के कारण ईश्वर सगुण ब्रह्म नहीं है।

५. नामरूप की उपाधि से युक्त ब्रह्म सगुण ब्रह्म है। नामरूप जागतिक धर्म हैं। यदि ईश्वर को सगुण ब्रह्म मान ले तो इसका अभिप्राय यह होगा कि जो ईश्वर नामरूपादि की उपाधि से युक्त है, वही नामरूपादि सम्पन्न जगत् की सृष्टि करता है। अतः ईश्वर सगुण ब्रह्म से भिन्न है, यही मानना अधिक युक्तिसंगत है।

६. हिरण्यगर्भ उपास्य ब्रह्म है। उपास्य ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति नहीं प्राप्त होती। एकमात्र पर-ब्रह्म ही ज्ञेय तथा मुक्ति का साधन है। ईश्वर का ज्ञेय के रूप में प्रस्तुतीकरण उपनिषद् में प्राप्त होता है। इस आधार पर भी ईश्वर निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्म सिद्ध होता है, सगुण ब्रह्म नहीं।

७. अद्वैतवाद जीव को सोपाधि मानता है। यदि ईश्वर को भी सोपाधि मान लें तो जीव के समान ईश्वर की भी अलग मुक्ति माननी आवश्यक होगी, जो उचित नहीं है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईश्वर निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्म है। ईश्वर कहलाने का कारण केवल इतना ही प्रतीत होता है कि जगत् के सन्दर्भ में जीव की दृष्टि से परब्रह्म ही ईश्वर कह दिया जाता है। एक लौकिक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है—एक मनुष्य पुत्र-प्राप्ति के बाद पिता कहलाने लगता है। पिता कहलाने से उसके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। वह पुत्र-प्राप्ति के पूर्व जैसा था, वैसा ही पुत्र-प्राप्ति के पश्चात् भी रहता है। आरोपण केवल एक अन्य संज्ञा का ही होता है जो सापेक्ष है। इसी प्रकार जगत् के सन्दर्भ में परब्रह्म ही जब ईश्वर कह दिया जाता है, तो उसकी स्वरूपस्थिति यथावत् बनी रहती है। परब्रह्म पर किसी उपाधि का आरोप असंभव ही है। अतः यह कह सकते है कि ईश्वर सापेक्ष नहीं है, वरन् 'ईश्वर' पद सापेक्ष है। जैसे आकाश का विभाजन नहीं हो सकता, तथापि घटाकाश की अपेक्षा से घटाकाशातिरिक्त आकाश महाकाश कहलाता है और घटोपाधि के नष्ट हो जाने पर केवल आकाश रह जाता है, महाकाश भी नहीं रहता; उसी प्रकार जीव की अपेक्षा से परब्रह्म ईश्वर कहलाता है और जीव की मुक्ति के पश्चात् ईश्वर भी नहीं रहता, केवल ब्रह्म ही रह जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि ईश्वर परब्रह्म की एक अन्य सापेक्ष संज्ञा है, यह परब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। यदि ईश्वर को सगुण ब्रह्म माने तो वह 'सगुण ईश्वर' ही कहा जायेगा। जैसे ब्रह्म का निर्गुण, सगुण इन दो रूपों में वर्णन मिलता है, वैसे ही ईश्वर का भी निर्गुण, सगुण रूप में वर्णन स्वीकार्य होना चाहिए, ऐसा नहीं है कि केवल 'मायोपाधिक ब्रह्म' ही ईश्वर है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि—

१. निर्गुण ब्रह्म निर्गुण ईश्वर है,
२. सगुण ब्रह्म सगुण ईश्वर है, और
३. दोनों प्रकार का ब्रह्म दोनों प्रकार का ईश्वर है।

ईश्वर का स्वरूप

उपनिषदों में ईश्वर के विलक्षण व्यापक रूप का वर्णन मिलता है। सर्वव्यापी ईश्वर इस जगत् में सब ओर से व्याप्त है।* वह समस्त इन्द्रियों के रूप में भासित होता हुआ भी वस्तुतः शरीरेन्द्रियरहित है (श्वे० ३/१७)। वह हेयोपादेय से रहित है तथा इन्द्रियों से अग्राह्य है। वह अविनाशी, सर्वव्यापी तथा अत्यन्त सूक्ष्म है (मु० १/१/६)। एक अद्वितीय ईश्वर से भिन्न और कुछ नहीं है (बृह० ४/३/२३)। वह सर्वथा ———— है। उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है।

(श्वे० ६/१४)। सब प्राणियों के अन्दर निवास करने वाला ईश्वर कर्मों का शासक, साक्षी और निर्गुण है (श्वे० ६/११)। सर्वशक्तिमान ईश्वर का कोई शासक, स्वामी अथवा जनक नहीं है (श्वे० ६/९)। ईश्वर से परे और कुछ नहीं है, उससे अणु अथवा महत् और कुछ नहीं है। प्रकाशरूप ईश्वर ने सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किया हुआ है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह विश्व में व्याप्त होकर भी उससे परे स्थित है।[5] भाव यह है कि वह जगत् में रहकर भी जगत् के धर्मों से प्रभावित नहीं होता।

ईश्वर और जीव

अद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर ही जीवरूप से अवस्थित है। ईश्वर और जीव के मध्य भिन्नत्व अज्ञान के कारण हो जाता है, अन्यथा दोनों एक ही हैं। जीव को भिन्न सत्ता के रूप में स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में द्वैतापत्ति की आशंका है जो अद्वैतमत के सर्वथा विरुद्ध है। उपनिषद् में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख है कि ईश्वर ही देहाभिमानी होकर बाह्य विषयों के लिए चेष्टा करता है (श्वे० ३/१८)। ईश्वर की जीवरूप से स्थिति का विभिन्न प्रकार से वर्णन मिलता है। केश के अग्रभाग को यदि सौ भागों में विभक्त किया जाये तो उसके सौवें भाग के बराबर जीव को समझना चाहिये (श्वे० ५/९)। किन्तु चूँकि वह मूलतः ईश्वर ही है, इसलिए अज्ञाननाश के उपरान्त उसका अनन्त रूप भी ज्ञात होता है। स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद से रहित वह एकरस चैतन्य तत्त्व न स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक है, तथापि अज्ञानवशात् देहाभिमानी होकर देह के धर्मों से तादात्म्य स्थापित कर स्वयं को स्त्री, पुरुष आदि समझने लगता है। जीव के रूप में स्थित यह ईश्वर अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण वाला बताया गया है (कठ० २/१/१२)।

मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् के दो समान मंत्रों में जीव और ईश्वर के सम्बन्ध की व्याख्या पक्षी के रूपक के माध्यम से की गयी है। ईश्वर और जीव दो पक्षी हैं। ये समान नाम वाले तथा सर्वदा साथ रहने वाले हैं। इनमें एक जीवरूप पक्षी कर्मफल का भोग करता है और दूसरा ईश्वररूप पक्षी भोग न करके साक्षिभाव से देखता रहता है (मु० ३/१/१)। जीव अज्ञान के कारण मोहित हो जाता है और स्वयं के असामर्थ्य का अनुभव करता हुआ दुःखी होता रहता है। जब अज्ञान का नाश हो जाता है, तब जीव देहादि से भिन्न ईश्वर का साक्षात्कार कर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है (मु० ३/१/२)। समस्त प्राणियों के जीवन-निर्वाहक और प्रलयस्थान इस ब्रह्माण्ड में जीव अज्ञानवश अपने को ईश्वर से भिन्न मानकर भटकता रहता है। दोनों की अभिन्नता का ज्ञान होने पर, अर्थात् 'मैं ही ईश्वर हूँ' इस प्रकार का ज्ञान होने पर वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है (श्वे० १/६)।

जगत् और ईश्वर

जगत् का एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण ईश्वर है। ईश्वर अपनी मायाशक्ति की सहायता से सृष्टि करता है। ईश्वर को मायावी कहा गया है।[6] मायाशक्ति ईश्वर से अभिन्न होते हुए भी ईश्वर के अधीन है। प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित ईश्वर मायाशक्ति की सहायता से सृष्टि करता है तथापि स्वयं जगत् से परे रहता है। जिस प्रकार एक मायावी मनुष्य अपनी माया से विभिन्न विलक्षण वस्तुओं को बनाता है, किन्तु उनके सौन्दर्य से किञ्चिदपि प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वह उनके मिथ्यात्व से भली-भाँति परिचित है उसी प्रकार ईश्वर अपनी मायाशक्ति से

निर्मित जगत् से प्रभावित नहीं होता (श्वे० ३/२)। मायावी ईश्वर एक होता हुआ भी अनेक रूपों मे भासित होता है। जैसे मकड़ी अन्य किसी बाह्य उपकरण की अपेक्षा न करते हुए जाला बनाती है, अथवा जैसे जीवित पुरुष से केश तथा लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी ईश्वर से विश्व की उत्पत्ति होती है (मु० १/१/७)। बृहदारण्यकोपनिषद् भी इस बात की पुष्टि करता है कि माया के कारण ईश्वर बहुत प्रकार का प्रतीत होता है।[८]

मुक्ति का साधन

मुक्ति का एकमात्र साधन है—ईश्वर-ज्ञान। ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है। यही कारण है कि श्रुति ईश्वर का उपास्य रूप में निषेध करती है (केन० १/८)। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उपासना-मार्ग से भी मुक्ति का उल्लेख किया गया है (मु० १।२।११), तथापि यह स्मरणीय है कि उपासना-मार्ग से प्राप्त होने वाली क्रम-मुक्ति है, जबकि ज्ञानमार्ग से साधक को सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। क्रम-मुक्ति का भी अन्तिम चरण ज्ञान ही है। अतः ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है, इस विषय में संदेह का कोई अवकाश नहीं है। यह आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्लभ है (कठ० १/२/२३)। यह अवाङ्मनसगोचर तत्त्व है (केन० १/३)। ऐसे दुर्लभ ज्ञान को प्राप्त कर जीव समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है (श्वेत० १/८)। इसके लिए कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप अज्ञान का नाश आवश्यक है। इन्द्रियों से अग्राह्य, अविनाशी, महान्, सत्य, परम तत्त्व के ज्ञान से जीव जन्म-मरण की श्रृङ्खला से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।[९] मुक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जैसे प्रवहमान नदियाँ अपने नामरूप को त्यागकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञान-सम्पन्न पुरुष भी नामरूपादि भेदों से मुक्त होकर प्रकाशस्वरूप परमेश्वर में विलीन हो ईश्वररूप ही हो जाता है (मु० ३/२/८)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म अथवा ईश्वर माया की सहायता से कर्तृत्वभोक्तृत्वसम्पन्न इस जगत् की रचना करता है। यह जगत् अनादि है, किन्तु अन्तवान् है। ऐसे इस विलक्षण जगत् में ईश्वर ही जीवरूप मे अवस्थित है। अन्तर मात्र इतना है कि ईश्वर ज्ञानी है, जबकि जीव अज्ञानी है, ईश्वर कर्तृत्वभोक्तृत्व से रहित है जबकि जीव कर्तृत्वभोक्तृत्व से सम्पन्न है, अज्ञाननाश होने तक जीव ईश्वर से भिन्न-सा है और अज्ञाननाश होते ही जीव ईश्वररूप है। यही मुक्ति की अवस्था है। अतः यह कहा जा सकता है कि औपनिषदिक विचारधारा में ईश्वर को भले ही स्पष्ट शब्दों में परिभाषित न किया गया हो, तथापि उससे सम्बन्धित समस्त पहलुओं पर विचार किया गया है।

संदर्भ-संकेत

१. येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
   ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
   तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
   पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्। श्वे० ६/२

२. पुरुष एवेदं सर्वं यत्भूतं यच्च भव्यम्।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ श्वे० ३/१५

३. महीया
   मारवा भूसर्या निहितोऽस्य बन्धो

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ श्वे० ३/२०

४. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ मु० २/२/११

५. सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ श्वे० ३/१४

६. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥ श्वे० ५/१०

७. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ श्वे० ४/१०

८. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति ॥ बृह० २/५/१९

९. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ कठ० १/३/१५

C/O डॉ० आशा गुप्त
५०, दिलकुशा,
नया कटरा, इलाहाबाद

रामानुज और पाश्चात्य दर्शन

☐

श्री आनन्दप्रकाश पाण्डेय

रामानुज के प्रति आकर्षण

आधुनिक युग में जिन मसीही दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन का अनुशीलन किया, उन्होंने देखा कि रामानुज का दर्शन उनके दर्शन के अधिक निकट है और शंकराचार्य का दर्शन उनके दर्शन का विरोधी है। इस कारण उन्होंने रामानुज दर्शन को अपनाने का प्रयास किया और उसके साथ ही साथ जैसे रामानुज ने शंकर के अद्वैत-वेदान्त का खण्डन किया था, वैसे ही उन्होंने भी शंकराचार्य के केवल अद्वैतवाद का खण्डन किया। ईश्वर चित् और अचित् से विशिष्ट है (विशिष्टाद्वैतवाद)। जीव ईश्वर का अंश है और ईश्वर से सायुज्य-लाभ कर सकता है। ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति है। भक्ति की पराकाष्ठा प्रपत्ति है। भक्तिमार्ग से कर्म-मार्ग और ज्ञानमार्ग का समन्वय है। जगत् मिथ्या नहीं है, किन्तु सत् है और जगत् ईश्वर से अपृथक्-सिद्ध है। रामानुज के इन सिद्धान्तों से मसीही दर्शन का मेल बैठता है। इनके आधार पर आधुनिक युग में रामानुज-दर्शन का मेल अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार से किया गया है।

रामानुज और आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक

ईश्वर के विषय में सामान्यतः पाँच मत प्रचलित हैं—

(१) ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, ऐसा अनीश्वरवादी कहते हैं।

(२) ईश्वर के बारे में मनुष्य को कोई ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसा अज्ञेयवादी कहते हैं।

(३) ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, ऐसा देववादी कहते हैं। देववाद एकेश्वरवाद है।

(४) ईश्वर जगत् है और जगत् ईश्वर है, ऐसा सर्वेश्वरवादी कहते हैं। सर्वेश्वरवाद भी एकेश्वरवाद है।

(५) ईश्वर एक है और वह जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों है, ऐसा ईश्वरवादी कहते हैं। यह ईश्वरवाद सर्वश्रेष्ठ एकेश्वरवाद है।

इन पाँचों मतों में ईश्वरवाद ही धार्मिकों की दृष्टि में मान्य है। रामानुज सम्पूर्ण संसार में सर्वश्रेष्ठ ईश्वरवादी हैं। इस कारण संसार में जितने एकेश्वरवादी या ईश्वरवादी हुए हैं, उन सबके विचार रामानुज के विचार से मिलते-जुलते हैं।

आधुनिक युग में रामानुज-दर्शन के अनुयायी और विद्वान् प्रो० पी० एन० श्रीनिवासाचारी ने डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित 'हिस्ट्री ऑफ फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न' के प्रथम भाग में अपने लेख में लिखा है कि पश्चिम के सभी दार्शनिकों में यूनानी दार्शनिक प्लाटिनस रामानुज के सर्वाधिक निकट हैं। उनके इस कथन का आधार प्लाटिनस के अप्रतिबिंबित सिद्धान्त हैं

(क) सत् एक है। उसको 'एक' नाम से ही पुकारा जाना चाहिए। उसके अन्य नाम उसके गुणों का वर्णन करते हैं।

(ख) सम्पूर्ण जगत् इस एक से आविर्भूत हुआ है।

(ग) इस एक से एक होना प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य है। इस ऐक्य-लाभ के लिए एकमात्र मार्ग रहस्यवाद है जिसकी पराकाष्ठा एक के साक्षात् तथा अपरोक्ष अनुभव में होती है। यह अनुभव निरतिशय आनन्द है।

पुनश्च रहस्यवादी दार्शनिक प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे ने डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी' में अपने लेख में कहा कि रामानुज-दर्शन की तुलना अंग्रेज दार्शनिक 'जेम्स वार्ड' के ईश्वरवाद और हेस्टिंग्स रैशडल के व्यक्तित्वपूर्ण प्रत्ययवाद (पर्सनल आइडियलिज्म) से की जा सकती है। हम इस प्रसंग में यह भी जोड़ सकते हैं कि अंग्रेज दार्शनिक प्रिंगिल पैटिसन के व्यक्तित्वपूर्ण प्रत्ययवाद की भी तुलना रामानुज के विचार से की जा सकती है। फिर वहीं प्रो० ए० आर० वाडिया ने अपने लेख में दिखलाया है कि रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद हेगल के मूर्तिमान् अद्वैतवाद के समकक्ष है।

अपरंच आधुनिक युग के अस्तित्ववादी दार्शनिक ग्रैबील मार्सेल (१८८६-१९७३) के निम्नलिखित विचार रामानुज के विचारों के अधिक निकट हैं —

(१) मार्सेल के दार्शनिक विचार उनकी आध्यात्मिक यात्रा व साधना के अंग हैं। वे आशा, प्रेम तथा विश्वासपात्र का विवेचन करते हैं। इस विवेचन से वह ईश्वर के अस्तित्व तक पहुँचते हैं और उसमें विश्वास करते हैं। श्रद्धा-विश्वास की उनकी व्याख्या धार्मिक चेतना का विशद वर्णन है।

(२) उनका कहना है कि दार्शनिक समस्या रहस्य है और रहस्य का मतलब वह अनुभव है जो किसी विषय में रखा नहीं जा सकता, जो विषयबद्ध नहीं हो सकता और इसके साथ ही जिसकी तिलांजलि भी नहीं दी जा सकती है।

(३) 'मेरा' और मेरे शरीर से सम्बन्ध रहस्यात्मक है। इस सम्बन्ध को किसी कोटि या राशि में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। वह अपनी कोटि स्वतः है।

(४) मनुष्य का व्यक्तित्व कभी ईश्वर में विलीन नहीं हो सकता है। ईश्वर का साक्षात्कार करने पर भी मनुष्य अपनी अस्मिता को कायम रखता है।

(५) मनुष्य का ईश्वर से संभाषण करना या ईश्वर से सम्पर्क स्थापित करना उसके जीवन का मुख्य लक्ष्य है।

(६) मार्सेल अपनी साधना में अन्त में उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ ईश्वर का साक्षात्कार किया जाता है और ईश्वर प्रत्येक साधक के लिए तू (दाउ) हो जाता है। ईश्वर सगुण और साकार है और हम सभी चेतन प्राणी उससे व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित हैं। पूजा और प्रार्थना में उससे साक्षात्कार किया जा सकता है।

मार्सेल का मुख्य दार्शनिक ग्रन्थ है 'द मिस्ट्री ऑफ बीइंग', जो सर्वप्रथम गिफर्ड लेक्चर्स के रूप में प्रकट हुआ था। रामानुज के ग्रन्थों के साथ इस ग्रन्थ का तुलनात्मक अनुशीलन करने से रहस्य और आध्यात्मिक अनुभव की व्याख्या पर विशेष प्रकाश पड़ेगा।

अन्त में प्रायः रामानुज के समकालीन मसीही सन्त बोनावेन्चरा के विचारों से रामानुज का मत मिलता-जुलता दिखाया जा सकता है। ये दोनों दार्शनिक मध्ययुगीन हैं। अतः उनकी तुलना का विशेष उल्लेख आवश्यक है।

रामानुज और बोनावेन्चरा

सन्त बोनावेन्चरा (१२११-१२७४) फांसिस्कन सम्प्रदाय के आचार्य हैं। रामानुज की भाँति वे भी एक प्रमुख मध्ययुगीन दार्शनिक हैं और धर्म-दर्शन के साथ सभी विद्याओं का समन्वय करते हैं। बोनावेन्चरा के अनुसार दर्शनशास्त्र की तीन शाखाएँ हैं—बुद्धिवादी, प्रकृतिवादी और नीतिवादी। बुद्धिवादी की पुनः तीन शाखाएँ हैं—व्याकरण, तर्कशास्त्र और भाषण-कला। प्रकृतिवादी की तीन शाखाएँ हैं—तत्व-मीमांसा, गणित और भौतिकी। अन्त में नीतिशास्त्र की तीन शाखाएँ हैं—धर्मशास्त्र या रहस्यवाद, अर्थशास्त्र और राजनीतिविज्ञान। ये सभी विद्याएँ मानती है कि ईश्वर का अनुग्रह धर्मशास्त्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र और रहस्यवाद सभी विद्याओं के प्रेरक तथा प्रयोजन हैं।

बोनावेन्चरा के अनुसार धर्म का आधार भावना या भक्ति है। यह भक्ति वैज्ञानिक भावना साइंटिया आफेक्टिव अर्थात् भावना और ज्ञान एकमेव है। इस ज्ञानाभिन्न भक्ति से भक्त भगवान् का दर्शन करता है और अन्त में भगवान् से सायुज्य-लाभ करता है। भगवान् त्रिविधिता में एकता हैं जिसे बोनावेन्चरा त्रिकदेव (ट्रियुना डेयटी) कहते हैं। ईश्वर-लाभ के लिए बोनावेन्चरा ने जिस भक्ति-मार्ग को बताया है, उसमें छह सोपान है—(१) इन्द्रिय-अनुभव, (२) कल्पना, (३) बौद्धिक ज्ञान, (४) चिन्तन, (५) प्रातिभ ज्ञान और (६) पूर्ण प्रज्ञान (सेन्सस, इमैजिनेशन, रैटिओ इन्टेलेक्टस, इन्टैलीजेन्शिया, ओपेक्स मेन्टिस)। उनकी मुक्ति (साल्वेशन) की कल्पना ईश्वर से सायुज्य प्राप्त करने की है। इस प्रकार बोनावेन्चरा का षडंग भक्तिमार्ग और मुक्ति रामानुज के भक्तिमार्ग और मोक्ष से मिलते-जुलते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि रामानुज ने विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष, इन सात साधनों को भक्ति का सोपान बताया है। फिर बोनावेन्चरा रामानुज की ही भाँति विश्वास की व्याख्या करते हैं। वे बताते है कि विश्वास कैसे प्राप्त किया जा सकता है और कैसे वह विश्वास के आगे ले जाता है। बोनावेन्चरा ने आत्मा की यात्रा को नौ दिन की यात्रा बतलाया है। इस यात्रा में आत्मा पहले पाप से प्रायश्चित तक जाती है। फिर वहाँ से दस आदेशों तक जाती है जो मसीही मत के मुख्य महादेश हैं। वहाँ से वह दीनता, ब्रह्मचर्य और नम्रता के पवित्र और ऐच्छिक गुणों की ओर बढ़ती है। वहाँ से वह समस्त श्रेय की ओर बढ़ जाती है। तत्पश्चात् वह सात आनन्दों की ओर बढ़ती है जिनका उल्लेख बाइबिल के 'मैथ्यू' नामक पुस्तक में है। तत्पश्चात् वह अध्यात्म के बारह फलों को प्राप्त करती है जिनका बाइबिल मे उल्लेख किया गया है। अन्त में वह निर्णय (जजमेंट) के पास पहुँचती है और वहाँ से वह स्वर्ग जाती है। यह समूचा वर्णन रामानुज के प्रपत्ति-मार्ग का भाष्य लगता है। रामानुज के प्रपत्ति-मार्ग में जो छह अङ्ग बताये गये हैं—अनुकूल्य-संकल्प, प्रातिकूल्य-वर्जन, महाविश्वास, कार्पण्य, गोप्तृत्व-वरण और आत्म-निक्षेप। इनके पालन से जीवात्मा ब्रह्मलोक के पास पहुँचती है और क्रमशः सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त करती है। इस प्रकार रामानुज और बोनवेन्चरा के भक्ति-दर्शन प्रायः समान हैं। दोनों रहस्यवादी धर्म-मीमांसा (थिओलोजिआ मिस्टिका) को मानते हैं। किन्तु दोनों का आरम्भ-बिन्दु धर्मशास्त्र के ग्रन्थों के वाक्य हैं। रामानुज वेदार्थ-संग्रह में वेदों का अर्थ अपने भक्तिमार्ग के पक्ष में करते हैं और बोनावेन्चरा नवीन नियम (न्यू टेस्टामेंट) की व्याख्या अपने भक्ति-दर्शन के पक्ष में करते हैं। इस प्रकार रामानुज और बोनावेन्चरा के दार्शनिक सिद्धान्तों और प्रणालियों में पर्याप्त समानता है।

रामानुज और हेगल

किन्तु उपर्युक्त तुलना से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि रामानुज का दर्शन अब कालातीत हो गया है। आधुनिक युग में अनेक भारतीय दार्शनिकों ने रामानुज और हेगल के

की तुलना करके सिद्ध किया है कि रामानुज का दर्शन उन्नीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ
क हेगल के दर्शन के समकक्ष है। हेगल के जिन विचारों का साम्य रामानुज के विचारों से
जाता है, वे निम्नलिखित हैं—

(क) परम सत्ता एक है और वह मूर्तिमान् एकता है, न कि अमूर्त। रामानुज की शब्दावली में वह विशिष्ट अद्वैत है, शुद्ध अद्वैत या केवल अद्वैत नहीं।

(ख) समस्त जगत् परमसत् का आन्तरिक विकास है। रामानुज की शब्दावली में समस्त जगत् ब्रह्म का स्वगत परिणाम है।

(ग) परमसत्ता का रूप त्रिवृत् है। वह जड़ और चेतन का समन्वय है। हेगल चेतन को वाद और जड़ को प्रतिवाद कहता है तथा ईश्वर को संवाद। रामानुज ने ईश्वर को चित् तथा अचित् से विशिष्ट कहा है और चित् और अचित् को परस्पर व्यावर्तक भी माना है। इसलिए हेगल ने परमसत् को जिस वाद, प्रतिवाद, संवाद द्वारा निरूपित किया है, वह रामानुज के त्रैतवाद को, चित्, अचित् और ईश्वर को, न्याय-संगत रूप में प्रस्तुत करता है।

(घ) हेगल ने ज्ञान और प्रेम का समन्वय किया है जो रामानुज के ज्ञान और भक्ति के समुच्चय के समान है। शुद्ध भक्ति या प्रेम ज्ञान है और ज्ञान शुद्ध भक्ति है। इसी आधार पर दर्शन और धर्म को भी हेगल वैसा ही मानते हैं, जैसे रामानुज। वास्तव में हेगल कला, धर्म और दर्शन के त्रिक् में विश्वास करते हैं। इनमें से कला और धर्म में कुछ द्वन्द्व रहता है जिसका समाधान दर्शन में होता है। दर्शन में इसके अतिरिक्त कलात्मकता और धर्मशीलता का भी गुण रहता है। इस प्रकार जो दर्शन सम्पन्न होता है, वह आत्म-साक्षात्कार पर आधारित धर्म है। रामानुज हेगल के इस विवेचन से सहमत प्रतीत होते हैं क्योंकि इन्होंने जिस दर्शन को स्वीकार किया है, उसमें धार्मिक चेतना के विषय के रूप में ही ईश्वर प्रकट होता है। इसी प्रकार ब्रैडले कहते हैं कि धार्मिक चेतना से अधिक ठोस सत्ता को जो लोग खोजना चाहते हैं, वे नहीं जानते कि वे क्या खोज रहे हैं। ईश्वर से अधिक ठोस कोई सत्ता नहीं है।

(ङ) हेगेल ईश्वरवादी हैं। उनका ईश्वरवाद मसीही धर्म का ईश्वरवाद है। वे ईसामसीह के माध्यम से ही ईश्वर-लाभ को संभव मानते हैं। रामानुज ऐसा नहीं मानते। किन्तु वे लक्ष्मी के माध्यम से नारायण या ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर देते हैं। उनके मत में लक्ष्मी ईश्वर के अंग-रूप हैं, ठीक वैसे ही जैसे मसीही ईश्वरवाद में ईसा ईश्वर के अंग-रूप हैं।

(च) हेगलवाद की व्याख्या करते हुए हेगल के अनुयायियों में, विशेषतः इटली के दार्शनिक क्रोचे ने निरपेक्ष सत् को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् से अपृथक् सिद्ध किया है। उनका कहना है कि ईश्वर के गुण ईश्वर की सत्ता का विभाजन नहीं करते हैं, वे उसके मात्र विशेषण हैं। इस प्रकार वे विशेषण (डिस्टिंक्शन) और विभाजन (डिवीजन) में भेद करते हैं। ऐसा विशेषणवाद रामानुज भी मानते हैं, क्योंकि वे भी मानते हैं कि ईश्वर के छह गुण हैं और वे छह गुण ईश्वर को छह प्रकार का नहीं बताते हैं। इन षड्गुणों के रहते हुए भी ईश्वर एक है।

इस प्रकार रामानुज-दर्शन को व्यक्तित्वपूर्ण प्रत्ययवाद (पर्सनलिस्टिक आइडियलिज्म) के रूप में निरूपित किया जा सकता है।

और संवृतिशास्त्र (फेनामेनालोजी)

परन्तु रामानुज की ज्ञान-मीमांसा हेगल की ज्ञान-मीमांसा से कुछ भिन्न भी है। समकालीन शास्त्र (फेनामेनालोजी) की तरह रामानुज भी कुछ ऐसे सिद्धान्तों को मानते हैं जिनके

कारण उनका दर्शन समकालीन ज्ञान-मीमांसा के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से निम्नलिखित सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं—

(१) ज्ञान सविषयक होता है। हुसर्ल ने इस मान्यता को अधिक बल प्रदान किया और दावा किया कि प्रत्येक ज्ञान किसी-न-किसी विषय की ओर उन्मुख रहता है, वह निर्विषय नहीं हो सकता है। ठीक ऐसे ही रामानुज का सिद्धान्त है। वे चैतन्यमात्र को सविषयक कहते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति में भी चैतन्य सविषयक रहता है, ठीक वैसे ही जैसे प्रत्यक्ष दशा में वह किसी विषय की ओर उन्मुख रहता है।

(२) किन्तु संवृतिशास्त्र (फिनामिनालोजी) जिन विषयों का विवेचन करता है वे शुद्ध प्रत्यय हैं और बाह्य जगत् के अस्तित्ववान् विषयों से उनका सम्पर्क नहीं है। रामानुज ऐसा नहीं मानते। वे सत्ख्यातिवादी हैं और प्रत्येक ज्ञान के विषय को यथार्थतः सत् मानते हैं। वे फेनामिनालोजी के कोष्ठीकरण (ब्रैकेटिंग) तथा अपचय को स्वीकार नहीं करते हैं।

(३) परन्तु संवृतिशास्त्र (फिनामिनालोजी) के दार्शनिकों की तरह रामानुज भक्ति, श्रद्धा और विश्वास का निरूपण करते हैं। भावनाओं के निरूपण में वे पूर्णतया फेनामिनालोजी को स्वीकार करते हैं। भाव-जगत् का उनका वर्णन आध्यात्मिक है। उसका प्रमाण उनका धार्मिक अनुभव है।

(४) अहम् के विश्लेषण में भी संवृतिशास्त्र (फिनामिनालोजी) जिस स्वातन्त्र्य और भाव का वर्णन करता है, वह रामानुज को स्वीकार्य है। उदाहरण के लिए, जिस स्वातन्त्र्य का चित्रण सार्त्र करते हैं, वह रामानुज के मत से भी मानव-चेतना का लक्षण लगता है। किन्तु यह स्वातन्त्र्य ईश्वर की अधीनता का ज्ञान है, जैसे संवृतिशास्त्र (फिनामिनालोजी) में और हेगल के दर्शन में स्वतन्त्रता अनिवार्यता का ज्ञान है। जो अनिवार्यतः सत् है, उसका ज्ञान रखना ही मानव-स्वातन्त्र्य है। रामानुज के मत से सब कुछ ईश्वराधीन है, इसलिए ईश्वर के आधीन्य का ज्ञान मानव-स्वातन्त्र्य है। निरीश्वरवादी सार्त्र के अनुसार सब कुछ कार्य-कारण से निर्धारित है और इस निर्धारण का ज्ञान प्राप्त करना स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार एक तरह से सार्त्र के यहाँ भी पारतन्त्र्य या परवशता का ज्ञान स्वयं स्वातन्त्र्य है।

निष्कर्ष

इस प्रकार रामानुज का दर्शन पाश्चात्य दर्शन के उपर्युक्त मतों से अधिक मिलता-जुलता है, पर रामानुज जैसा कोई पाश्चात्य दार्शनिक नहीं है। उनके कुछ मतों की ही समानता तत्-सदृश पाश्चात्य मतों से दिखाई गयी है। मूलतः रामानुज धर्म-दार्शनिक हैं। इस कारण सभी पाश्चात्य धर्म-दर्शनों से उनके धर्म-दर्शन की तुलना आसानी से की जा सकती है। भारत में समस्त धर्म-दार्शनिक, जो रामानुज के बाद हुए, उनके विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित हैं और जहाँ कहीं उनका अपना सिद्धान्त नहीं रहता, वहाँ वे रामानुज का दर्शन ही मानते हैं। किन्तु ठीक यही बात पश्चिम के धर्म-दर्शनों के विचारकों के बारे में नहीं कही जा सकती। कारण वे अपनी परम्पराओं, संस्कृतियों और साम्प्रदायिक रीतियों से बँधे हैं। फिर भी ईश्वर के गुण के बारे में, ईश्वर और जीव के सम्बन्ध के बारे में, अशुभ के बारे में, भक्तिपूर्ण जीवन के बारे में, ईश्वर के प्रति प्रेम के बारे में वे जो कुछ कहते हैं, वह रामानुज के दर्शन से काफी मेल रखता है। यदि उन्हें उनके पूर्वाग्रहों से हटा दिया जाय और रामानुज को भी उनके पूर्वाग्रहों से हटा दिया जाय तो भावबोध के स्तर पर दोनों का एक ही धर्म-दर्शन प्रतीत होगा। यदि हम रामानुज को धर्म-दर्शन का कोपरनिकस कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

शोध छात्र, दर्शन विभाग

नए प्रकाशन

मानस और विज्ञान   लें० डॉ० रामलखन सचान

प्रकाशक—मानस संगम, श्री प्रयाग नरायण मंदिर (शिवाला) कानपुर-१

मूल्य—साठ रुपये

'मानस और विज्ञान' नामक पुस्तक दरअसल 'मानस का आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अनुशीलन' शीर्षक से कानपुर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। पुस्तक की समस्त सामग्री सात अध्यायों में है—विज्ञान का स्वरूप, संस्कृति एवं समाज का वैज्ञानिक स्वरूप, चिकित्साशास्त्र एवं जैविक सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में, जलवायु विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे, विमान एवं वैमानिकी के परिप्रेक्ष्य में, भौतिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में, एवं रसायन विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे मानस का अनुशीलन किया गया है। इन विविध वैज्ञानिक विषयों के विवेचन में लेखक की खोज न केवल 'मानस' पर आधारित है, बल्कि उन्होंने वैदिक साहित्य का भी उतना ही उपयोग किया है जितना कि तुलसी-कृत 'रामचरितमानस का'। 'मानस' में प्रयुक्त वैज्ञानिक शब्दावली का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए वैदिक साहित्य से लेकर 'रामचरितमानस' तक का समूचा साहित्य लेखक के दृष्टिपथ में रहा है। लेखक ने जैविक सिद्धान्तों के विश्लेषण में उल्लेखनीय निष्कर्ष निकाला है कि "आधुनिक विज्ञान की अधुनातन खोज है कि किसी मनुष्य में हानिकारक जीन को नष्ट करके उससे सम्बन्धित भयंकर रोगों का अन्त किया जा सकता है। इसी प्रकार अच्छे या बुरे लक्षण वाले जीन का समावेश करके भावी संतानों को इच्छानुसार गुणवाला पैदा किया जा सकता है। इस दिशा में शोधकार्य हो रहा है और वह दिन शीघ्र ही आने वाला है जब राम या रावण जैसे मनोवांछित व्यक्ति उत्पन्न किये जा सकेंगे।······एकता में अनेकता तथा अनेकता में एकता जीन की विशेषताओं के कारण होती है।" इस जैविक सिद्धान्त की पुष्टि विद्वान् लेखक ने 'मानस' के माध्यम से इस प्रकार की है—

एक पिता के बिपुल कुमारा।
होहिं पृथक गुन सील अचारा ॥७।८६।१ से ७।८७ क तक

आशय यह है कि मानसकार को निश्चित रूप से आधुनिक जैविक एवं आनुवंशिक सिद्धान्तों की जानकारी थी—क्या यह एक विचारणीय बिन्दु नहीं है?

आधुनिक विमान एवं वैमानिकी के सम्बन्ध मे लेखक ने कुछ निष्कर्ष दिये हैं। अध्याय के प्रारम्भ (पृ० १०४-११५) में लेखक ने न केवल भारतवर्ष में, अपितु विश्व के अन्य देशों में प्राप्त उड़न-कथाओं का सविस्तार लेखा प्रस्तुत किया है और लिखा है कि "यदि हम भारत में विमान की उड़ान की प्रारम्भिक कल्पनाओं पर दृष्टिपात करें, तो हमें अपने प्राचीनतम ग्रंथ वेदों का अवलोकन करना पड़ेगा।" और फिर, वैदिक साहित्य में विमान, वायुयान या आकाशयान का जहाँ भी उल्लेख है, लेखक ने उसकी सविस्तार जानकारी दी है। 'मानस' में भी 'विमान' शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। लेखक का निष्कर्ष उल्लेखनीय है कि "भारतीयों को प्राचीन काल में उड्डयन विद्या का ज्ञान था जो बीच में विलुप्त होकर उनकी साहित्यिक कृतियों में सांस्कृतिक विरासत और कल्पना के पुट से व्यक्त होता हुआ 'रामचरितमानस' की प्रस्तुति में आ सका है।" —यह बात अलग है कि आधुनिक यंत्र-निर्मित विमान की तरह प्राचीन काल के विमान न थे। प्राचीनकालीन विमान सवार की इच्छाशक्ति या प्रेरणा से चलते थे। राम ने अयोध्यावासियों को जाते हुए देखकर नगर के निकट विमान को उतरने के लिए प्रेरित किया—

आवत देखि लोग सब कृपासिंधु भगवान।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ उतरेउ भूमि बिमान ७ ४क

इसी प्रकार—

उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहि तुम्ह कुबेर पहिं जाहु ।
प्रेरित राम चलेउ सो हरष बिरहु अति ताहु ॥७।४॥

यहाँ तो यह भी साफ हो जाता है कि विमान न केवल प्रेरित होकर कुबेर के पास गया, बल्कि उसे हर्ष-विषाद भी हुआ। क्या कुबेर का पुष्पक विमान जीवधारियों की तरह आचरण करता था ? यदि ऐसा 'मानस' में है, तो आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में तुलना कैसी ? इतना ही नहीं, मानसकार ने और भी अद्भुत कल्पनाएँ की हैं। रावण सीता का अपहरण करके ले जा रहा है। तुलसी लिखते हैं—

क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ ।
चला गगन पथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ ॥३।२८॥

करति बिलाप जाति नभ सीता । ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता ।३।२८।१२॥

रथ भी आकाश-मार्ग से चलते थे। उनमें घोड़े भी जुते रहे होंगे, तभी तो रावण भयवश रथ को हाँक नहीं पा रहा है।

आगे लेखक ने विमान के चलने पर ध्वनि-साम्य भी दिखाया है। विमान की ध्वनि के संदर्भ में मानस मे है—

चलत बिमान कोलाहल होई । जय रघुबीर कहइ सब कोई ॥६।१.८।१

इस पर लेखक की टिप्पणी है—"यहाँ सभी के द्वारा कही गई 'राम की जय' या 'रघुवीर की जय' तो स्पष्ट है, किन्तु विमान के चलने से होने वाली ध्वनि अस्पष्ट है। इस तेज और अस्पष्ट ध्वनि को ही वैज्ञानिक भाषा मे शोर और साहित्यिक भाषा में कोलाहल कहा जा सकता है। इसी तथ्य को स्वीकारते हुए बाबा हरिहर प्रसाद जी ने कहा है कि गरुड़ पक्षी की रीति से विमान से साथ ध्वनि निकल रही है, उससे 'कोलाहल' हो रहा है। वाल्मीकि रामायण में भी यही स्वीकार किया गया है कि ध्वनि विमान मे ही हो रही है।" किन्तु, वाल्मीकि रामायण में इसके लिए स्पष्ट रूप में 'महानाद' शब्द का प्रयोग हुआ है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'श्रीरामचरित-मानस' की अपनी टीका में इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—"विमान के चलते समय बड़ा शोर हो रहा है। सब कोई रामचन्द्रजी की जय कह रहे हैं।" मुझे भी यही लगता है कि 'कोलाहल' का अर्थ 'विमान की ध्वनि' न करके 'उस समय एकत्र बन्दर-भालुओं का शोर' ही करना चाहिए, क्योंकि संभवत उन्होंने पहली बार पुष्पक-जैसा अनुपम विमान को उड़ते हुए देखा हो। दरअसल 'कोलाहल' किसी जीवधारी की ध्वनि हो सकता है, जड़ पदार्थ की नहीं। और अगर 'मानस' के अनुसार यह मान लिया जाय कि पुष्पक जीवधारी है और उसे हरष-बिषाद होता है,—तो फिर आज के विमान की ध्वनि से उसकी तुलना उपादेय नहीं लगती।

निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत कृति 'मानस और विज्ञान' लेखक के प्रगाढ़ परिश्रम का फल है। इसने सर्वथा एक नई दिशा की ओर इंगित किया है। पर, साथ ही यह भी कि मानसकार को वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली की उपलब्धि अपने प्राचीन साहित्य से हुई है, उनकी अपनी निजता नहीं है

पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई है। आमुख के साथ पूरे-पूरे आठ पृष्ठ प्रशंसा के हैं। किन्तु, इस संबंध में अभी अन्तिम रूप से बहुत कुछ सोध बाकी है। प्रस्तुत पुस्तक इस प्रकार के विषय की सोच की संभावना तो पैदा ही करती है।

प्रकाशन के संबंध मे इतना और—कि प्रकाशक ने पुस्तक के प्रति सुरुचि का परिचय नहीं दिया—यह कृति के साथ अन्याय हुआ है। पुस्तक में बहुत अशुद्धियाँ हैं, प्रारम्भ के प्रशंसा-पत्रों मे तो अशुद्धियाँ ही अशुद्धियाँ हैं। मुद्रण भी लिजलिजा है। कागज भी घटिया लगाया गया है। मूल्य भी अधिक है।

कैलाशनाथ शुक्ल
६ चक जीरो रोड इलाहाबाद